सुबहे बनारस

उत्कृष्ट ललित निबन्धों का संग्रह

राजनाथ पांडे

थ पांडेय

क-चेतन

हिन्दी में ललित निबन्ध अधिक नहीं लिखे गये। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, डा० गुलाबराय, श्री सियाराम शरण गुप्त, पं० विद्यानिवास मिश्र आदि के ललित निबन्धों ने साहित्य-भंडार में अवश्य वृद्धि की है।

ललित निबन्ध में पाण्डित्य-प्रदर्शन नहीं किया जाता। उसमें छोटी से छोटी बात रोचक शैली में कही जाती है, जो कथा और निबन्ध दोनों का एक साथ आनन्द दे जाती है। कभी-कभी तो दैनिक जीवन के ऐसे लघु प्रसङ्गों पर ललित निबन्ध की रचना हो जाती है, जिसकी ओर कभी किसी का ध्यान ही नहीं जाता।

'सुबहे-बनारस' में पं० राजनाथ जी पांडे के २२ उत्कृष्ट ललित निबन्ध हैं। ये अपने ढंग के अनूठे हैं और पुस्तक रूप में प्रकाशित होने के पूर्व ही अत्यधिक लोकप्रिय हो चुके हैं। पांडे जी के ये निबन्ध अन्य निबन्धकारों से भिन्न प्रकार के हैं। आप पुस्तक पढ़ कर अवश्य ही रस-विभोर हो उठेंगे।

To
Shri K.K. Gupta
Joint-Registrar,
Jammu and Kashmir University
with reference to my application
for the post of Professor in Hindi.

Rajnath Pandey
Saugar University
Sagar: M.P.
16.6.1965

सुबहे बनारस

[उत्कृष्ट ललित निबंध]

★

राजनाथ पांडेय

प्रकाशक : लोक-चेतना-प्रकाशन, जबलपुर

मुद्रक : केसरवानी प्रेस, प्रयाग

आवरण-शिल्पी : एम० इस्माइल

प्रथम संस्करण : मार्च, १९६१ : १००० प्रतियाँ

मूल्य : पाँच रुपये
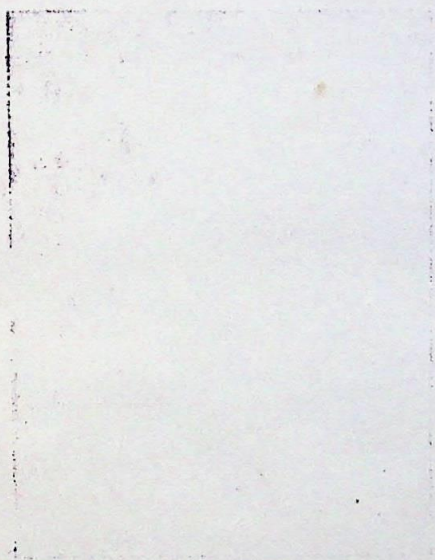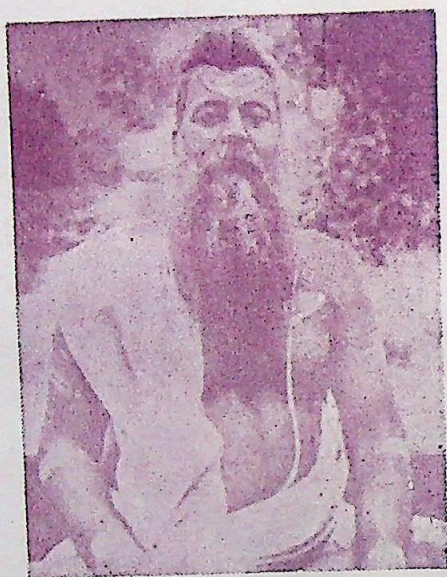
शाहों में शंकर

समर्पण

●

शाहों में शंकर
शाह सीतारामजी प्रातः स्मरणीय की
परम प्रिय और पावन स्मृति को,
अशेष श्रद्धा और भक्ति सहित।

—राजनाथ पाण्डेय

आत्म-निवेदन

जिन दिनों एक-एक शब्द जोड़-जोड़कर, एक-एक वाक्य; और एक एक वाक्य जोड़-जोड़कर इन निबन्धों की रचना में मैं लीन था, उन दिनों, मन के किसी भीतरी कोने में दबा हुआ रहा ही होगा, पर यह विचार उठा कभी नहीं कि मेरा एक-एक शब्द जोड़ना एक दिन पुस्तक का रूप ग्रहण करेगा, और तब मुझे ही उसकी भूमिका अथवा आत्म-निवेदन लिखना पड़ेगा। निबन्ध तो लिखे गये बड़ी शान्ति और सहजता के साथ, शायद इस कारण कि मन में दर्द था, मोह था और एक अभिमान था जो आत्म-प्रतीति की अभिव्यक्ति चाहता था। और इसलिये भी कि प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में ज्यों-ज्यों ये प्रकाशित होने लगे थे, अनेक परिचितों, अपरिचितों ने तथा प्राय: सभी परितुष्ट प्रतिवेशियों ने और विशेष-रूपेण एक रुष्ट स्वजन ने सप्रीति सराहनायें करके मन में एक नई रंगत पैदा कर दी थी। और पुस्तक भी प्रकाशित हो गई है पर्याप्त सुगमता से, इसलिये कि इसके सहृदय प्रकाशक में स्नेह है, साहित्य है और प्रचुर मानवता एवं सहानुभूति है। किन्तु आत्म-निवेदन' लिखने का यह काम मेरे लिये भारी बोझ हुआ है। चाहता था कि कोई भाई काँधा लगा देता, क्योंकि सभी काँधा देते और पाते हैं। पर मुझे ? 'जिन्दा-मुर्दे को काँधा कौन देता है ?' सो मन को अपना बोझ स्वयं ढोकर, अपने को समर्पित होने के लिये भूतनाथ शंकर की शरण में उनके पावन-स्थल तक पहुँचना ही होगा।

निबन्धों के निर्माण के समय जो एक दर्द-भरा उत्साह रहा करता था, आज उसका स्थान एक ऐसी व्यथा ने ले लिया जिसे दर्द या घाव न कहकर 'गम' ही कहना ठीक रहेगा। पुस्तक के बनने ने, लिखने के समय के दर्द-भरे उत्साह को पीकर मेरे वर्तमान में ही मुझे अतीत किया ही था कि आत्म-निवेदन के इस प्रपंच ने मानों पुस्तक की उपस्थिति को दबोचकर मेरे वर्तमान को उसके भविष्य के आतंक से झकझोर डाला! और तभी एक झलक उस भयंकर काल रूपी महेश्वर की मिली जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य एक साथ ही मिट रहे हैं; जो एक को पीता हुआ दूसरे को निगल रहा, तथा एक को जन्म देता हुआ दूसरे का संहार कर रहा है। जो निखिल ब्रह्मांड में व्याप्त समस्त दुर्भाग्य का

एकमात्र आगार है! जो विराट ब्रह्मांड रूपी कल्पवृक्ष की अनंत डालियों में मानो देवता, मनुष्य, असुर; अरब-खरब-कोटि के प्राणियों और नद, नदी, पर्वत, समुद्र से आपूर्ण अनन्त ग्रह-पिंडों को फल के समान पोषित कर उगाता और साथ ही गिराता चला जा रहा है!

महाकाल के इस तांडव रूप की कल्पना मात्र से मन का सारा भारीपन भूल कर सोचने लगा कि क्या इन महेश्वर की क्रूरता से बचने का कोई उपाय भी है?

हाँ उपाय है, और वह है उनके शिव-स्वरूप की कल्पना, और 'सुबहे बनारस' की आराधना। स्वेच्छा से अंगीकृत अभिशाप ही वरदान है। 'सुबहे बनारस' का यही उपदेश जो "रंगे वाराणसी" का प्राण है, महाकाल के शिवत्व की उपलब्धि का एकमात्र साधन है। इसी से तो मानव-तन में शिव के प्रतीक को ही इस 'सुबहे बनारस' का समर्पण भी है!

यद्यपि इस पुस्तक में 'सुबहे बनारस' शीर्षक एक ही निबन्ध है तथापि यहाँ आद्यान्त बनारसी रंग की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित है। 'बाबा बनारसी' से आरम्भ कर हमारे पाठक 'रंगे वाराणसी' में से होते हुए जब 'बात रह गई थोड़ी' तक पहुँचेंगे तो उन्हें लगेगा कि लेखक अब विदा माँगने वाला है। सचमुच लेखक के पास अब विदा के अतिरिक्त कहने के लिये और कोई शब्द शेष है नहीं। और 'कहिये तो कैसे कहें!' (अंतिम निबन्ध) में विदा की व्यथा पर्याप्त निहित भी है। उसमें 'शामे बनारस' के बाद तेजी से आ रही रात्रि की अँधियारी और मौनता का भी आभास है। चाहता था कि एक निबन्ध 'शामे बनारस' भी होता जो बुंदेलखण्ड के किसी निवासी के रूप में मैं लिखता—काशी के मध्याह्न के बाद वाला उसका सान्ध्य-स्वरूप चित्रित होता। किन्तु ऐसा न हो पाया और मेरा 'सुबहे बनारस' मध्याह्न को पहुँचे बिना ही "शामे बनारस" से भी छूट कर 'शबे बनारस' में डूब गया! यदि महाकाल की कृपा रही तो शायद अगले संस्करण में (वह भी यदि महाकाल की कृपा से संभव हुआ) अपने पाठकों के समक्ष उसे प्रस्तुत करने के लिये उपस्थित हो सकूँगा। अभी तो इतना कह कर विदा लेता हूँ कि :—

अब तो जाते हैं मैकदे से मीर,
फिर मिलेंगे अगर खुदा लाया!

महाशिवरात्रि,
१३ फरवरी, १९६१ ई०

—राजनाथ पाण्डेय
(सागर विश्वविद्यालय)

अनुक्रम

०००

★

१ : बाबा बनारसी

० ० ०

जो दिलवर का बेटे की तरह मुंह चूमे ।
उस आशिक के संग-संग सारी खुदाई घूमे ॥

आज से पच्चीस वर्ष पूर्व साठ-पैंसठ वर्ष के एक वृद्ध सज्जन* से ख्याल-बाज बाबा बनारसी के विषय में यह सुना था कि जब वह पन्द्रह-सोलह साल के थे तब बाबा साहब के ख्याल उन्होंने इलाहाबाद की सड़क पर सुने थे । आज जहां इलाहाबाद का घंटाघर है उसके निकट तब नीम का एक बड़ा भारी पेड़ था और उस वृक्ष के तने के चारों ओर एक विशाल चबूतरा बना हुआ था । हाथ में अपनी डफ लेकर जब बाबा जी ने उस चबूतरे पर चढ़कर डफ पर थाप दी तो वह ध्वनि गलियों और सड़कों को चीर कर बड़ी दूर तक गूंज उठी और बाजार की दूकानें

*स्वर्गीय मुंशी दाऊदयाल जी हकीम मुहल्ला रानी मंडी, इलाहाबाद वाले ।

खटाखट बन्द होने लगीं। थोड़ी ही देर में हजारों को भीड़ उस मैदान में जुट आयी और बाबा जी जब अपनी आशु कविता की अजस्र धारा लावनी के रूप में प्रवाहित करने लगे तो दुपहरिया के बाद तिजहरिया, तिजहरिया के बाद सन्ध्या और रात और फिर आधी रात न जाने कब कैसे बीत गयी। फिर बाबाजी को लोग उठा-पठा कर मुहल्ला अहियापुर में पहुँचा आये जहां वह टिके हुए थे।

बाबा जी अपने को आशिके हक्कानी ब्रह्मज्ञानी बनारसी कहते थे। उनके सम्बन्ध में बनारस की ठेठ जनता कहा करती थी—

'अरबी पड़े न फारसी, सबके चचा बनारसी।'

वह सचमुच पढ़े-लिखे न थे। जवानी के दिन लावनी-अखाड़े के उस्तादों की चिलमें भरने में बितायीं। शरीर से आप सुन्दर और सुघड़ थे। अपने कंठ में मादक सुर, हृदय में तड़प और डफ में तेजवान गमक लेकर आप भारत के प्रसिद्ध नगरों में बिचरते रहते थे। जब मौज में न होते तो हजारों की भीड़ घंटों भले ही प्रतीक्षा किया करती पर टस से मस न होते थे। एक बार उसी पेड़ के नीचे चबूतरे पर लोगों ने बलपूर्वक उन्हें लाकर खड़ा कर दिया तो बाहों से पेड़ के तने से लिपट गये। लोगों ने पीठ पर पानी फेंका, कीचड़ फेंका और क्रोध में कुछ चांटे भी जड़ दिये पर वह तनिक न मिनके। और दूसरे दिन जब मौज में आये तो बिना किसो के बुलाये आकर उसी चबूतरे पर चढ़ गये और लगे अपने काव्यामृत से नगर को आप्लावित करने!

कहते हैं कि एक बार बम्बई शहर में समुद्र तट पर खड़े हो वह अपने डफ की धमक से समुद्र की उत्ताल तरंगों से होड़ ले रहे थे। जहाज इंगलैण्ड की अपनी यात्रा के लिये तैयार खड़ा था किन्तु सारे खलासी तट पर खड़े बाबाजी के ख्याल सुनने में ऐसे तन्मय हो गये थे कि जहाज के भोंपू का स्वर उन तक पहुँच नहीं पा रहा था। यह हाल देख जहाज का कप्तान जहाज से नीचे उतर आया। बोला—'बाबा को जहाज पर उठा ले चलो। वहीं इसका 'गजल' करो!'

खलासी सचमुच बाबा बनारसी को उठा कर जहाज पर ले गये। जहाज छूटा। बाबा जी गाते-बजाते लन्दन पहुँच गये। रानी के महल तक इनकी गूंज पहुँची। मलका विक्टोरिया ने भारत के शायर को खिलअत के साथ महल में पेश करने का हुक्म दिया। बाबा ने विंडजर की हवेली में लावनी की अपनी पताका लहराई। वहां से जब बाहर निकले तो कीमती पोशाक का बोझ असहनीय

पा एक-एक करके उसे सड़क पर फेंक दिया और वैसे ही फटे हाल कुछ दिनों बाद फिर स्वदेश लौट आये ।

मैंने अपने पूज्य पिता जी से सुना था कि बाबा का अग्रवाल वैश्य का चोला था । मेरठ जिले में उनका जन्म-स्थान था । उन्होंने अपना बाल्य-काल गांव की उस पाठशाला में बिताया था जिस पाठशाला में पिछले खेवों के लोग अपना बचपन एक निराले वातावरण में व्यतीत करते थे । तब की पाठशाला में स्लेट-पेंसिलें, श्याम-पट्ट और किताबें नहीं होती थीं । इसी कारण बाबा कुछ 'पढ़े-लिखे' न थे । अपने विषय में उन्होंने कहा था—

'मैं कुछ पढ़ा-लिखा नहीं परन्तु जो कोई इसके (उनके काव्य के) मजमून को सुनते हैं वह तअज्जुब समझते हैं और पसन्द करते हैं ।'

बिन पिये जहां के बीच जिऊं मैं कैसे ?
भर दे प्याला लबरेज साकिया मै से ।।

पर साधारण मै (शराब) से करोड़ों गुनी कीमती वह मै पीते थे जिसे पीना बिरले ही संसारी के लिए सुलभ है । उस मै का परिचय लीजिये :—

चश्मों में भरा है रंग गुलाबी गुल का ।
अश्कों[१] को पियेंगे काम नहीं कुछ मुल[२] का ।।
यह आंख मेरी वहदत[३] का पैमाना है ।
अब इसी को समझा मैंने मैखाना है ।।
चश्मों[४] से जियादा कोई न मस्ताना है ।
क्या-क्या रंग इसमें देखता जो स्याना है ।।
जब चुयेंगे आंसू मेरे चश्मे गिरियां[५] से ।
कुछ समझ के हम पीयेंगे इन्हें दिल जां से ।।
मै-खोरी[६] का नहिं लेंगे नाम ज़बां से ।
रो-रो के पियेंगे अश्कलबे बिरियां[७] से ।।

१—अश्क = आंसू । २—मुल = शराब (अरबी शब्द) । ३—वहदत = साम्य या ऐक्य । ४—चश्म = चक्षु, नेत्र । ५—गिरिया = रोता हुआ । ६—मैं-खोरी = शराब खाना (पीना) । ७—बिरियां = जला हुआ ।

हिचकियों से मेरे होगा शोर कुलकुल का ।
अश्कों को पियेंगे नहीं काम कछु मुल का ।।

बाबाजी अपनी वृद्धावस्था में परिपूर्ण, योगी और ब्रह्मज्ञानी हो गए थे और वार्धक्य का अपना स्थिर और परिपूर्ण जीवन काशी में व्यतीत करते उन्हें वहीं गङ्गा-लाभ हुआ था । किन्तु उनकी मान्यता थी कि योग के पूर्व इश्क और वियोग अनिवार्य होता है । वह कहते थे—

जोगी साधे जोग, जोग में काया को है खेद बड़ा ।
हमने जाना है कि जोग से है वियोग का भेद बड़ा ।।
जोगी गहते ज्ञान वियोगी फिरें इश्क में दीवाने ।
वियोग जिसको मिला नहीं वह जोग का रस्ता क्या जाने ?
बनारसी ने वियोग साधा जोग में देखा खेद बड़ा ।
जान लिया हमने कि जोग से वियोग का है भेद बड़ा ।।

इश्क और इश्क के रंज, माशूक की एक झलक से प्राप्त हुई दिल की तड़प और आशिकों की दिलेरी के चित्र उन्होंने अपने ख्यालों में बड़ी मार्मिकता से अंकित किये हैं । दो-चार उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं :—

चोट इश्क की जिसके दिल पर जरा लगी या सिवा लगी ।
रहा नीम[८] जां न उसको ताबे उमर[९] तलक कोइ दवा लगी ।।
तड़प गए एक दीद के खातिर नींद न आई सारी रात ।
तारों से ए प्यारे ! हमने आंख लड़ाई सारी रात ।।
ला मकां[१०] है आशिकों का नहीं कहीं मकां है ।
जहां खुदा है मस्तों का भी दिल सदा वहां है ।
हूँ जईफ दिल मेरा बड़ा जवान है ।
नाताकत हूँ मगर मुझमें बड़ी तवान[११] है ।।
जिन्दा वही है जो जान से भी बेजां है ।
करता है सैर जो इश्क में हैरां है ।।
नादान को भी कहता हूँ मैं वह इनसां है ।
यह अक्ल है मेरी और यह फहम[१२] कहां है ।।

८—नीम = आधा । ९—ताबे उमर = उम्र का वशीभूत । १०—ला मकां = बिना घर का । ११ = तवान—सम्पन्न । १२ = फहम = समझ ।

कहै बनारसी हरइक मिसरा[13] मेरा कुरां है।
जहां खुदा है मस्तों का भी दिल सदा वहां है ॥

बाबाजी इश्क और रंज का चोली-दामन का साथ मानते थे। इश्क और रंज का क्या नाता है जरा उनके शब्दों में सुनिये :—

गरचे इश्क में रंज न होवे तो कोइ उसका नामन ले।
आशिक वह है जो कि रंज के सिवा कहीं आराम न ले।।
लाखों सदमे सहे जिगर पर जबां से निकले आह नहीं।
चाहने वाले को रंज के सिवा किसी की चाह नहीं।।
गम में खुश होवे सोइ आशिक दिल से दूर हो दाह नहीं।
सिवा इश्क के किसी दूसरी तरफ को करे निगाह नहीं ॥
मजा इश्क का रंज में है गर इसमें रंज नहीं होता।
फिर तो कोई आशिक अपने अश्क से क्यों कर मुंह धोता ।।
क्यों मरता शीरीं पै कोहकन औ' मजनूं क्यों कर रोता।
अपने सर को अपने हाथ से वह सरमद भी क्यों खोता ॥
बनारसी गर मजा न पाता तुख्म[14] मुहब्बत क्यों बोता।
बहरे इश्क[15] में लहर जो देखी तो उसने मारा गोता ।।
मैं सलाम करता हूँ इश्क को चाहे वह मेरा सलाम न ले।
आशिक वह है जो कि रंज के सिवा कहीं आराम न ले ॥

सचमुच विचारे बाबा ऐसे ही आशिक थे। उनकी आशिकी का रङ्ग ही कुछ अनोखा था। यार की गलियों में चक्कर काटते-काटते उनकी पिंडलियां भर आयी थीं। ठोकरों से पांव की सभी उंगलियां टूट गयी थीं। पर उस माशूक लामकां का इन्हें कुछ भी पता न मिल पाया था! वह कहते :—

चलते-चलते थक गयी ये मेरी पिंडलियां।
ला मकां समझ के फिरे यार की गलियां ।।
राहत को समझ कर रंजो अलम उठाया।
हंसने को समझ रोने का तार लगाया ॥

१३—मिसरा=छन्द का पद। १४—तुख्म=बीज। १५—बहरे इश्क= प्रेम का समुद्र।

नजदीक समझ कर बड़ी दूर फिर आया ।
पर सब्र किया जो अपना दिल घबराया ।।
ठोकर से पांव की टूटीं सबी उंगलियां ।।
ला मकां समझ के फिरे यार की गलियाँ ।।

वास्तव में जिस युग में बनारसी बाबा का आविर्भाव हुआ था वह सदियों पहिले का युग न होने पर भी आज के जमाने से बहुत भिन्न था। जो आदमी आज के जमाने में स्कूल-कालिजों का मुंह एक दिन को भी न देख पाये फिर भी अपने आलीशान दिल और दिल की ऊँची उमंगों के बल दुनिया में कुछ करने के लिए निकल पड़े उसके सामने इतनी बाधाएं आती हैं कि प्रायः शीघ्र ही जेलखाने या पागल-खाने की चहारदीवारी के भीतर ही वह अपना स्थान सुरक्षित पाता है। परन्तु उस युग में संस्कृत की पाठशालाओं में न जा सकने वाले नगर और गाँव-गांव के साधारण आदमी को भी इन्सान बना देने के अनेक साधन सुलभ थे। जिस प्रकार तब गांव-गांव में शरीर और जोग की कमाई के लिए पहलवानों और योगियों के अखाड़े थे, उसी तरह कजली, जोगीड़ा, अफसाना-गोई और ख्यालबाजी के अखाड़े होते थे। तीतर-बटेर, बुलबुल, मुर्ग और भेढ़ों की लड़ाई रचाने वाले, कबूतर और पतंग लड़ाने वाले हुनरमन्दों की भी समाज में काफी खपत थी। कभी-कभी एकही उस्ताद योग, कुश्ती और कजली, खयाल या जोगीड़े का भी उस्ताद होता। किशोरों और कुमारों का समूह सबेरे घर से नाश्ता-पानी करके नगर या गाँव के बाहरी सीवान में किसी पोखरे या नदी के तट पर जुट जाता। उसी पोखरे के भीटे या नदी के कगार पर कोई कुटिया होती। सभी हुनरमन्द वहीं आकर जुटते। दोपहर तक वहीं वे लोग अखाड़े में कुश्ती लड़ते। एक या डेढ़ बजे दिन तक वहीं नहाते और इस प्रकार लड़के तैरना सीख लेते। शाम को मठ के योगी या फकीर से योग भी सीखते। खास-खास अवसरों पर वहीं गवैयों की भीड़ जुटती। हर मंगलवार को रामायण का पाठ होता। बरसात में आल्हा की ढोलक बजती। फागुन में फाग उड़ती। जोगीड़ा, कजली या खयाल की भिन्न-भिन्न टोलियाँ तैयार होतीं और आमने-सामने डटी हुई दो सेनाओं की तरह दोनों ओर से बारी-बारी से जो जोड़ें छूटती तो रात-रात भर जूझते रहकर भी प्रायः बिना हार-जीत का निर्णय हुए दूसरे साल या दूसरे पर्व पर निपटारा होने का फैसला करके उन्हें अलग हो जाना पड़ता। इस प्रकार कई साल तक किशोरावस्था का निश्चिन्त और अल्हड़पन तथा उल्लास का जीवन बिताने से उनमें आत्म-विश्वास से पुष्ट एक विशिष्ट व्यक्तित्व संगठित हो जाता था। इस प्रकार का अवसर उस युग के बहुसंख्यक युवकों को बहुत कम

व्यय से सुलभ था और इसी कारण पिछले खेवे के लोगों का चारित्रिक और सांस्कृतिक स्तर साक्षरता का अभाव होते हुए भी आज की अपेक्षा कहीं ऊंचा था।

हमारे "बाबा" ने भी पुस्तक-पट्टी से सर्वथा मुक्त ऐसी ही शाला में दीक्षा प्राप्त की थी। जवानी में इनके दिल काफी रंगीनी में बीते थे। इनके समय में खयाल या लावनी के दो विरोधी अखाड़े "तुर्रा" और "कलंगी" नाम से प्रसिद्ध थे। लावनी का प्रवर्तन दकन से हुआ कहा जाता है। कालान्तर में इस प्रथा के दो आचार्य तुकनगिरि (महाराष्ट्र संत) और शाहअली (दकनी दरवेश) हुए। इनके पश्चात् इनके अनुयायी "तुर्रा" और "कलंगी" अखाड़े के नाम से सारे देश में फैल गये। बाबा बनारसी शाह अली के कलंगी अखाड़े में शामिल हुए थे। उस समय इन अखाड़ों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता और द्वेष की भावना ने लावनी की परम्परा का स्तर बहुत नीचा कर दिया था, जिसका संकेत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने एक नाटक के "भरत वाक्य" में किया है। बाबाजी ने लावनी को पारस्परिक कलह और भौतिक-सौन्दर्य-निरूपण के संकुचित दायरे से मुक्त करके उसे ब्रह्मज्ञान की चर्चा का माध्यम बनाया। उन्होंने स्वयं कहा था—

"जब ईश्वर ने मेरे ऊपर अपनी कृपा करी तो इस पाप से मुझको छुड़ाया और फकीर बनाया अपना जलवा मुझको दिखलाया। जिसको देखते ही वह मस्ती का आलम हुआ कि आली मजमून नजर आने लगे तो मैंने अपने दिल में विचारा कि तू इसी लावनी से भगवत आराधना कर तो उर्दू बोली में मैंने इश्कमारफत मतलब तौहीद और हिन्दी में उपासना ब्रह्मज्ञान को कहा। इस वास्ते कि जो कोई इसके असल मतलब को पावेगा वह जीते जी ही इसमें मिल जावेगा और वही ईश्वर मेरे दिल में बैठ के ये सब बातें बनाता है।"

जिस जलवे का ऊपर उल्लेख है उसका वर्णन उन्होंने बड़ी ओजस्विता के साथ किया है—

वह नूरे रोशन कमर[१६] से बहतर तबक तबक[१७] पर खिला उजाला।
क्या ताबो ताकत गर उसको देखे मेरा वह दिलवर है सब पै आला॥
यह इक झलक की फकत सिफत[१८] है जेहन में अपनी जो कुछ कि आया।
बयां वह मैंने किया जबां से पै भेद उसका जरा न पाया॥

१६—कमर = चन्द्रमा। १७—तबक = आकाश के खंड खंड।
१८—सिफत = गुण।

कोई किताबें बना के थक गये किसी ने सीखा किसी ने गाया।
हजारों मुल्ला करोड़ों स्याने कोई इन्तहा[१९] न उसकी लाया ॥
फजल[२०] उसी का हुआ तो देखा बनारसी ने वह बारी वाला[२१]।
क्या ताबो ताकत गर उसको देखे मेरा वह दिलवर है सब पै आला ॥

कहानी काफी लम्बी है और बाबा जी की जीवन-कविता की जितनी भी चर्चा की जाय थोड़ी है। तत्व की बात यह है कि उनकी वाणी में कहीं कुछ तो ऐसा अमृत अवश्य ही है कि इतने दिन बीत जाने पर भी उनके स्वरों की गूंज थोड़ी-बहुत अब भी कहीं-कहीं बनी ही हुई है। जीवन में जिस समरसता और समदर्शिता का उन्होंने साक्षात्कार किया था और अपने व्यक्तित्व में जिस सहृदयता और महामानवता की उन्होंने अवतारणा की थी उसे उन्होंने पूर्णतया अपने स्वरों में प्रतिध्वनित भी किया था। सभी दीन और सभी पंथ के लोग उनको समान रूप से प्यारे थे और प्यार तथा इनसान से बढ़कर पवित्र उनके लिए दूसरा कुछ भी न था। इसीलिये उनके पुराने पड़ गये बोल सहृदयों के लिए चिर नवीन जीवन का अमर सन्देश हैं। खयाल या लावनी की यह धारा आज भी सहृदयों के लिए अपनी पुरानी साहित्यिक-परंपरा का भग्नावशेष नहीं पूजा का मन्दिर है और लावनी के प्रति हमारी ममता हमारी सुरुचि की कसौटी है।

अब हम भी आशिकी के बादशाह आशिके हक़ानी ब्रह्मज्ञानी बाबा बनारसी की स्मृति को हजारों सलाम करते हुए उनकी चन्द पंक्तियां और लिखकर यह निबन्ध समाप्त करते हैं।

प्यास हमारी बुझती है बस खूने जिगर के पीने से।
वाकिफ[२२] हुआ हूँ मैं अपनी चाहत के जरा करीने से ॥
काम नहीं काशी से मुझे नहिं मक्के और मदीने से।
और नहीं आरजू[२३] मुझे मरने की न मतलब जीने से ॥
रंज यह बोला बनारसी से गर तू मेरा दास न हो।
मुझ मरीज को तो फिर यकदम जीने की कोइआस न हो ॥

और विनम्रता उनकी ऐसी कि सब कुछ बस एक करतार को समर्पण है।

जो कहता हम करते वह दुख भरता है।
जो करता जग के कार वही करता है ॥

●

१९—इन्तहा = अन्त। २०—फजल = कृपा। २१—बारीवाला = सर्वोच्च परमात्मा। २२—वाकिफ = परिचित। २३—आरजू = प्रार्थना।

२ : 'आज़ाद' की एक लकीर

० ० ०

(१)

इस समय हम न तो उन आजाद के विषय में सोच रहे हैं, जिन्होंने उर्दू साहित्य के तीर्थ-सलिल "आबे-हयात" का निर्माण किया था, और न उन मौलाना आजाद के सम्बन्ध में, जिनके गद्य की मनोहरता का साक्षात्कार करके प्रसिद्ध कवि हसरत मोहानी अपने पद्य की अनुपम कमनीयता को तुच्छ मानते हुये कह उठे थे :—

जब से देखा है 'आजाद' का नस्र
नज्मे 'हसरत' भी भूल गया ।।

और यहाँ हम पंडित 'शरसार' के बेहद सरनाम मस्तराम हजरत आजाद का भी जिक्र नहीं कर रहे हैं। आज हम संसार के आजादों में से एक उन आजाद की याद कर रहे हैं, जिनका सारा जीवन बस एक ही लम्बा दिन होता

है, वह दिन जिसमें उदीयमान बालारुण की लालिमा अपार और मध्याह्न के सूर्य की प्रखरता भरपूर होती है; और जिनकी जिन्दगी में शाम आती है तो सिर्फ एक बार और केवल कुछ क्षणों के लिये। उनकी कायारूपी इकनाली बन्दूक में बलिदान की फकत एक ही गोली भरी होती है, और वह एक ही बार में सारी छूट जाती है, और वह जब छूट जाती है, तब छुटकारा भी हो जाता है। पुरजा-पुरजा हो जाने पर भी उन आजादों के धूलि-धूसरित अधखुले नयनों और दाँतों के नीचे दबकर फटे हुये होठों पर अलसाई हुई मुस्कान ही दिखाई देती है। और कबीर के शब्दों में आखिरी दम तक उनका यही कहना होता है कि :—

सूरा सोइ सरहिये, लड़ै धनी के हेत।
पुरजे-पुरजे होइ रहै, तऊ न छांड़े खेत ।।

हम अपने लक्ष-लक्ष करों से आज उस आजाद को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं जो इन सब आजादों में आजाद एक बड़ा ही अलबेला आजाद था। शिर पर मोर-पखा बांधकर विहरने वाला वह किसी नन्द का अनन्द (पुत्र) तो न था जो किसी 'विहारी' कवि की कल्पना में 'ससि सेखर के अकस सत-चंद-सेखर' बन जाता.* किन्तु अपने शिर से कफन बांधकर विचरने वाला वह माई का लाल अपने अकेले ही में सम्पूर्ण शुद्ध एक चन्द्र-शेखर अवश्य था, जिसके मस्तक पर सिर के बोझ से कई गुनी अधिक बोझीली चाँदी की गठरियों का ब्रिटिश शासन की ओर से इश्तहार था!

(२)

मुगल सराय स्टेशन से पटना होकर कलकत्ते जाने वाली गाड़ी बक्सर स्टेशन से छूटने पर लगभग तीन मिनिट के भीतर बाईं ओर ५-६ फर्लाङ्ग की दूरी पर एक विशाल मैदान छोड़ती हुई चली जाती है। अगर मुसाफिर की निगाह उधर वाली खिड़की की तरफ हुई, तो उसे मैदान के बीचो-बीच धूप में चमकती कांसे को एक विशालकाय उभरी हुई मूर्ति दिखाई देती है। यह मैदान बक्सर का वही प्रसिद्ध समरांगण है जिसे सन् १७६४ ई० की तेईसवीं अक्टूबर को अवध के नवाब वजीर शुजाउद्दौला के नेतृत्व में देश की आजादी के छह सहस्र दीवानों ने

---

* मोर पखनि की चन्द्रिकनि, यों राजत नन्द नन्द।
जनु ससि सेखर के अकस, किय सेखर सत चन्द।—बिहारी

९ बजे प्रातः काल से १२ बजे मध्याह्न तक अपने खून से सींचकर लाल-लाल कर डाला था। और वह कांसे की मूर्ति? ईस्ट इण्डिया कम्पनी की फौजों के उस दिन के विजयी सेनानी मेजर हेक्टर मनरो की है, जिसकी उस दिन की जीत ने समस्त उत्तरी भारत का द्वार अंग्रेजों के लिये खोल दिया था।

एक बार पहले हमने चलती हुई गाड़ी में से उस मैदान और उसमें खड़ी हुई उस मूर्ति को देखा था, और फिर सन् १९३४ के अगस्त के महीने में हम उसी मैदान में उस मूर्ति के समक्ष खड़े थे। उसे देखकर हमें ऐसा लगा कि लगभग पौने दो सौ साल बीत जाने पर भी जैसे उस दिन की विजय का गौरव अब तक उस मस्तक में भरा हुआ हो। जैसे उन आंखों में हारे हुओं की चोट से उठी टीस के प्रति अपार घृणा और, जीते हुये की झुंझलाहट की खूंखारी अब तक मौजूद हो। उसी समय प्रति-दिन जाने वाला तूफान-मेल पूरब को चला जा रहा था। रेलवे लाइन मूर्ति की बाईं ओर पड़ती है। उसकी दाहिनी तरफ आम, इमली, पीपल, नीम और बरगद के वृक्षों का एक झुरमुट है। इस बाग में कई पुरानी पक्की कब्रें हैं। कौन जाने ये कब्रें उस युद्ध में अपार पराक्रम दिखाकर खेत रहने वाले रायजादा-बन्धु गुलाम कादिर, गुलाम-यासीन तथा अब्दुल रज्जाक और बीर सेनापति शुजा कुली खां की ही हों?

बक्सर-बिजेता का स्मारक उस मैदान की वह विशाल मूर्ति है। उस बाग में भी एक क्षीण स्मारक है एक वीर का, जो एक घसियारे का बानक बनाकर कई दिनों तक उस मैदान में बैठा बक्सर-युद्ध के नक्शे बनाता और लगभग पौने दो सौ वर्ष बीत जाने पर भी महाराज बेनी बहादुर की कायरता और मुर्शिद कुली खां की ईर्ष्यान्धता पर आंसू बहाता रहा, और जब वहां से जाने लगा तो एक अपना स्मारक उस बाग के बरगद के पेड़ की डाली पर एक लकीर के रूप में छोड़ता गया।

हम उस दिन उसी पवित्र स्मारक को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने वहां गए थे।

(२)

मार्च के अन्तिम सप्ताह में प्रयाग से रवाना होकर काशी, कलकत्ता तथा कलिम-पोङ् होते हुए ल्हासा (तिब्बत), और फिर ल्हासा से लौट कर कलिम-

पोङ्, कलकत्ता, काशी होते हुए जुलाई के अन्तिम सप्ताह में प्रयाग पहुँचने पर हमें हिन्दी-विभाग में शोध का कार्य दिया गया। उन्हीं दिनों, शायद अगस्त के अन्तिम सप्ताह की बात है, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की शीघ्र ही आरम्भ होने वाली परीक्षाओं के पर्यवेक्षण के लिये विहार के कुछ केन्द्रों को देख आने का प्रस्ताव आया तो, इतना घूम आने पर भी घूमने की वृत्ति जो मन्द नहीं हुई थी, मैं राजी हो गया। भभुआ, बक्सर, सीवान, महराजगंज और पचरूखी इन पांच परीक्षा-केन्द्रों को देखना था। भभुआ-रोड स्टेशन पर सवेरे गाड़ी से उतरकर दोपहर होने के पूर्व ही भभुआ-केन्द्र का कार्य देखा। फिर केन्द्र-व्यवस्थापक जी के घर, जो हाई इंग्लिश स्कूल के हेडमास्टर थे, रोटी खाई और शाम को ९ मील स्टेशन वापस आ गया। उस रात मुगल सराय से गाड़ी ले सवेरे तड़के बक्सर पहुँच गया। बक्सर का केन्द्र देखकर वहाँ के केन्द्र व्यवस्थापक श्री कमला प्रसाद वर्मा जी एडवोकेट के साथ ही उनके घर आया। वहीं वर्मा जी के एक घनिष्ठ मित्र श्री ऋषिदेव मिश्र मिले, जो अपने जीवन का बहुत-सा समय सिंगापुर और रंगून में बिताकर तब बक्सर में रह रहे थे। खान्दान में उनका कोई खास अपना न होने के कारण उनके परिवार की सीमा काफी विस्तृत थी, और किसी अपरिचित को भी अपना कुटुम्बी बना लेने में उन्हें अटक न लगती थी। फलतः अपने उन्मुक्त स्वभाव और स्नेह-सहानुभूति से थोड़ी ही देर में उन्होंने ऐसा अपनपौ स्थापित किया कि जान पड़ता था जैसे हम लोग बहुत दिनों के सुहृद हों। भोजनोपरान्त उन्होंने प्रस्ताव किया कि बक्सर का रणक्षेत्र देख लिया जाय।

वकील साहब कचहरी गये और हम दोनों एक इक्का (टमटम) लेकर रण-क्षेत्र की ओर रवाना हुए !

मूर्ति के समक्ष खड़े हो जब हम 'मेजर हेक्टर मनरो' पढ़कर उसकी आकृति का अवलोकन कर रहे थे, उस समय हमारे साथी ने बतलाया कि १९२८ और १९२९ में किसी समय अमर शहीद चन्द्रशेखर आजाद कई दिनों तक बक्सर में रहे थे। प्रातः काल खँचिया (डलिया) और खुरपा लेकर वह शहर से निकल पड़ते और शाम को घास लेकर वापस आते। जिसके द्वार पर रात में वह पड़े रहते थे वह उन्हें परदेसी घसियारा ही समझे हुए था। एक दिन इसी मैदान में इनकी आजाद से भेंट हो गई थी। वह उस समय बक्सर-युद्ध के नक्शे बना रहे थे।

शुजाउद्दौला ने ४० हजार चुने हुए सैनिकों की अपनी सेना रणक्षेत्र में जिस जगह खड़ी की थी, उसके सामने कीचड़ और दलदल का एक बड़ा मैदान था, और उसकी यह चूक उसकी पराजय का मुख्य कारण सिद्ध हुई थी। महाराज बेनी बहादुर अपने वफादर सेनापति गालिब खाँ के उद्बोधन से रणक्षेत्र में वीरगति प्राप्त करने का संकल्प करके भी ऐन मौके पर पलायन कर गए! और वीर सेनापति मुर्शिद कुली खाँ भ्रमवश यह समझ कर कि विजय का सारा श्रेय राजा बेनी बहादुर ही को मिलने वाला है, ईर्ष्या से अन्धा हो अपने सात सहस्त्र दुर्रानी सिपाहियों को लेकर कीचड़ और दलदल वाले मैदान में घुस पड़ा, और एकदम बेबस अंग्रेजों की गोलियों क निशाना बन गया था। यह सब होने पर भी विजय का पलड़ा तीन-तीन बार निश्चित रूप से शुजाउद्दौला के ही पक्ष में झुका, किन्तु अन्त में विजय अंग्रेजों की हुई।

काश, उस दिन हेक्टर मनरो की सेना पराजित हो गई होती! तो शायद फिर भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना न हो पाती। इतनी व्यथाएं, इतनी यातनाएं, इतनी आपदाएं न झेलनी पड़ी होतीं! पर विजय तो अंग्रेजों की हुई।

चन्द्रशेखर आजाद के मानस में बक्सर का विगत युद्ध उस समय भी चल हो रहा होगा। वह अपने उस युद्ध के सेनानो होंगे, और युद्ध के अपने नक्शे इस प्रकार बना रहे होंगे कि विजय एकदम निश्चित हो जाय। किन्तु संध्या को वह फिर कठोर वर्तमान में वापस आते होंगे और फिर पुरानी गलतियों पर आठ-आठ आंसू बहा घसियारे की अपनी खंचिया-खुरपी और दो मुट्ठी घास लिए नगर को मायूस लौट आते होंगे। कौन करेगा उस विशाल हृदय की तड़पनों का लेखा-जोखा!

उस संध्या को इस दिन वाले मेरे पथ-दर्शक आजाद के साथ ही वापस आए थे। उन्होंने इनके ही घर भोजन किया। नाम तथा पता नहीं बताया था। फिर उसी रात गंगा के किनारे-किनारे बलिया की तरफ रवाना हो गए। विदा होते समय नाम पूछे जाने पर कह दिया कि, 'उस बाग में अमुक बरगद की डाली से पूछना, बता देगी।' दूसरे दिन सबेरा होते ही यह उस बाग में पहुँचकर उस बरगद पर चढ़ गए। उसकी उत्तर की ओर फैली हुई डाली में एक जगह खुदा हुआ था—'आजाद!'

उस संध्या के मेरे वह साथी यह सब बड़ी वेदना और विस्तार में मुझे बता रहे थे।

(३)

रणक्षेत्र से हटकर हम दोनों उस बाग में गए। पक्की कब्रों में कहीं-कहीं गड्ढे हो गए थे और ऊपर छाया करने वाले पेड़ों के पत्तों से बूंद-बूंद टपका हुआ बरसाती पानी उनमें जमा हो गया था। उस वृक्ष के पास पहुँचते ही तब से साढ़े तीन वर्ष, और आज से साढ़े बत्तीस वर्ष पूर्व का एक अलौकिक दृश्य कल्पना में नाच उठा। २७ फरवरी सन् १९३१ को, लगभग उसी समय जिस समय बक्सर युद्ध का प्रधान सेनापति मुर्शिद कुली खाँ सन् १७६४ में इस रण-क्षेत्र में अंग्रेजों की गोलियों से स्वर्गवासी हुआ था, 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट—रिपब्लिक-सेना' के प्रधान सेनापति चन्द्रशेखर आजाद शहीद होकर प्रयाग के अलफ्रेड पार्क में पड़े हुए थे। ग्यारह बजते-बजते विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की एक बड़ी भीड़ पार्क में पहुँच गई। पुलिस का घेरा हमें रोक न सका। क्षणभर में आजाद का शव और वह पेड़ जिसके नीचे वह महानिद्रा में पड़े हुए थे विद्यार्थियों के घेरे के अन्दर था। दाहिने हाथ से कोट की आस्तीन अलग थी, किन्तु बायाँ हाथ कमीज और कोट की आस्तीन के अन्दर था। लगता था कि जमीन से उनका सीना गज भर ऊंचा उठा हो! पिस्तौल के दर्जनों कारतूस दाहिने हाथ के पास ढेर भर पड़े थे। जिस जामुन के पेड़ के नीचे उनके पीछे से पीठ में गोली मारी गई थी उसके जड़ ही से दो तने विपरीत दिशाओं में फैले थे। जिस प्रेरणा से उस पेड़ पर पल भर में चढ़कर मैंने 'इनकिलाब जिंदावाद' की आवाज लगा दी थी, और परिणामस्वरूप सारे पार्क में इनकलाबी नारा गूंजते ही सशस्त्र सैनिक आजाद के शव को लेकर भाग गए थे, उसी प्रेरणा से मैं तुरन्त बक्सर वाले बरगद के पेड़ पर चढ़ गया। डाल में उत्कीर्ण 'आजाद' का अवलोकन किया। इतने दिनों में छाल के कटे हुए हिस्सों में पपड़ियाँ भर गई थीं। मैदान में एक जवान घास छील रहा था। मैंने अपने साथी से उसकी खुरपी मंगवाई और करीब आध घंटे में जेब के चाकू और उस खुरपी की सहायता से उस पवित्र लेख को धूमिल करने वाली पपड़ियाँ खुरचकर निकाल डालीं।

दूसरे दिन हमें सीवान पहुँचना था। बक्सर से ४ बजे शाम बलिया के लिये स्टीमर छूटता था। बलिया से छपरा होते हुए सीवान जाना था। स्टीमर पर जब वह मित्र पहुँचाने आए, और जब स्टीमर छूट गया, तब कल्पना में वही पुराना दृश्य रह-रह कर नाचता रहा। मैंने उन्हें सन् १९२१ में किशोरावस्था में एक बार बनारस में भी देखा था। ज्ञानवापी की मस्जिद के पीछे नगर कांग्रेस

कमेटी के मंत्री पंडित शिवविनायक जी मिश्र के सभापतित्व में एक सभा जुटी थी। बाबू शिवप्रसादजी गुप्त भाषण कर रहे थे। मंच पर साँवले रंग का स्वस्थ मुखमंडल और तेजस्वी नेत्रोंवाला एक किशोर मालाओं से सुसज्जित बैठा हुआ था। बनारस के ज्वाइंट मैजिस्ट्रेट खरेघाट की अदालत से 'महात्मा गांधी की जय' बोलने के कारण उसे बेंत की सजा दी गई थी। जेल में प्रत्येक बेंत के आघात पर वह महात्मा गांधी की जय बोलता, और बेंत की चोट की संख्या मैजिस्ट्रेट बढ़ाता जाता था। आजाद तब तक महात्मा गांधी की जय बोलते रहे जब तक वह बेहोश नहीं हुए। पंडित शिव विनायक मिश्र ही २७ फरवरी सन् १९३१ ई० को काशी से आजाद की दाह-क्रिया के लिए प्रयाग आए थे। यद्यपि पुलिस ने धोखा देकर दिये हुए समय के पहले ही उनके शव को रसूलाबाद में जलवा दिया था, फिर भी संध्या समय उनकी अस्थियों का जूलूस शिवचरण लाल रोड से मोती पार्क होता हुआ प्रयाग को सूनी-सूनी सड़कों पर से संगम तक गुज़रा था। जिस समय हमने सन् १९२१ में उन्हें देखा था उस समय उनके चेहरे पर शीतला के दाग न थे, किन्तु, १९३१ में जहां तक मुझे याद है ऐसा जान पड़ा कि उनके गालों पर शीतला के दाग थे। या शायद यह मेरा भ्रम ही हो।

मुझे फिर कभी बक्सर जाने का अवसर नहीं मिला। फिर भी मुझे विश्वास है कि कई सहस्त्र देश-प्रेमियों के रक्त और आंसू की जो अपार उष्णता तथा उर्वरता उस रणक्षेत्र ने किसी दिन प्राप्त की थी, उसके प्रतिदान में वह मैदान सदा की भांति अब भी वैसी ही लहलही घास वहां उगाता होगा। अगर उन पुरानी कब्रों की मरम्मत न हो गई होगी, तो बारिश होने पर अब भी उन गड्ढ़ों में जल भरता होगा जिसे पक्षी आकर पीते होंगे। और वह बरगद की डाली उत्तर दिशा में आज भी वैसी ही फूलती-फलती फैली होगी जैसी तब जब कि 'आजाद' ने उस पर बैठ कर एक लकीर अंकित कर दी थी!

●

३ : देव स्वामी

० ० ०

रोहिन-राप्ती-नारायणी और सरजू गंडक-घाघरा का देश । सरजू वही जिसके तट पर वाल्मीकि और तुलसी की कभी भी पराजित न होने वाली अयोध्या बसी है । रोहिन जिसकी तरङ्गो में कभी कपिलवस्तु के राज-प्रासादों के तोरण प्रति-विम्बित रहते थे, और राप्ती या अचिरवती वह जिसके तट पर कितने ही बार तथागत ने चंक्रमण किये और जिसकी क्षुब्ध धाराओं ने कपिलवस्तु को ढहा कर लौटते हुये आततायी कोसलकुमार विडूडभ (विरुद्धक) को उसकी समस्त सेना सहित पलक मारते जल-समाधि दे दी थी ! और नारायणी, घाघरा तथा गंडक – इन तीनों ने तो अपनी विध्वंसकारी बाढ़ों के कारण 'शोक की सरिता' कहलाने का कलंक सदा के लिये अपने ऊपर सहेज लिया है ।

पर ये पुरानी बातें हैं । हम जिस बात की चर्चा कर रहे हैं वह इतनी पुरानी नहीं है । उन्नीसवीं शती के अन्तिम वर्ष (१८६८) का अन्तिम महीना जाते-जाते रोहिन-राप्ती के देश में विपत्ति की भीषण वर्षा करता गया था । सारी

फसल नष्ट हो गयी थी । पर जब वसन्त का आगमन हुआ और दखिनैया तथा पछवा हवाएं मेल करके बहने लगीं तो सारा वन विहँस उठा। आम की फुनगियों पर सिर उठाये हुए मौर समस्त वन-प्रान्त को गह-गह करते हुए गांवों के घर-घर में सुगन्ध पाटने लगे । मधूम वृक्षों की टहनियों पर फूलों के गुच्छे रस और गन्ध में कसमसा उठे । होली आगयी थी । लोगों के घरों में दाना तो नहीं थे पर दीन को भी दानी बना देने वाली दिलों की दरियादिली तो कहीं गयी न थी । सोता पड़ जाने पर भी आधी रात के पार काफी और आगे तक फाग की मादक धुन से उठी हुई ढोलक और डफ की धमक दूर-दूर तक घुमड़ जाती थी ।

फरवरी महीने के अन्तिम दिनों की ऐसी ही एक रात बीत कर सवेरा हो चुका था जब रोहिन-राप्ती के देश में दो बादशाहतों के बीच सीमा-विभाजक बनने वाली छोटी पहाड़ी नदी के उस पार से किसी सधे कंठ से उठे संगीत के कुछ अनसुने बोल सुसंस्कृत कानों के लिये इस पार तक ललक-छलक कर यों संचरन करने लगे :—

जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव,
जागि त्यागि मूढ़तानुराग श्री हरे ।
करि विचार, तजि विकार, भजु उदार रामचन्द्र,
भद्र सिन्धु, दीन बन्धु बेद बदत रे ।

वर्तमान उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के किसी अन्तिम छोर पर बीच की क्षीण पहाड़ी नदी के उस पार, जहाँ तब के अंग्रेजी-साम्राज्य और आज के स्वाधीन भारत की सीमा से नेपाल-राज्य की सरहद लग जाती है, पथरीले तट पर नदी के परले तट पर एक पलाश का पेड़ । उस पेड़ के नीचे जमीन पर कम्बल बिछाकर एक मैली चादर में सिर से पांव तक सारा शरीर लपेटे निश्चेष्ट पड़ा हुआ कोई एक । पत्र विहीन पलाश की एक पतली डाली पर लटकता एक अंगौछा । और प्रभात की चमकीली किरणें नदी के जल से, पलाश के फूल के गुच्छों से और डाली पर लटकते हुए अंगौछे से, सब से अठखेलियाँ करती हुई । एक ओर सूर्य की सुवर्ण रश्मियां और एक ओर स्वर्गिक संगीत की सुमधुर स्वर लहरियां । उस पार का सारा वातावरण झलझला रहा था ।

और इस पार ? इस पार ऊँचा टीला, बड़े-बड़े वृक्षों का झुरमुट और उनमें से उभरता हुआ-सा विशाल सरकारी डाक-बंगला जो सबेरा हो जाने पर भी अभी तक एकदम नीरव और प्रशान्त पड़ा था। जैसे उस पार रात में शिकार मार कर नदी के इस पार सन्तोष में लेटा हुआ शेर सबेरा होने पर भी अभी शयन ही कर रहा हो। जैसे रात में मुँह और नाक में लगे खून के कारण सिंह के निश्वासों की निकली हुई हवा की दुर्गन्ध आस-पास फैल जाती है वैसी ही उस डाक-बंगले के बावर्चीखाने में 'बड़ा साहब' के प्रातःकालीन नाश्ते के लिये बघारे जा चुके आमिष खाद्य की चिरायंध अभी तक वहां व्याप्त थी और उसमें पगे खानसामा हुसेनी के दिमाग में तथा उस छांय-छांय से अभ्यस्त उसके कानों में उस पार से आ रहे वैराग्य विलसित मन्द-बिलन्द-पगगामी राग विभास के अलौकिक स्वर रेगिस्तान में पड़ी अमृत की बूंदों के समान नष्ट होते जा रहे थे !

संक्षेप में उस पार प्रभात होने के पूर्व से ही प्रकाश की व्याप्ति हो गयी थी तो इस पार सबेरा हो जाने पर भी अभी धूप नहीं पहुँच पायी थी। उस पार सुषुप्ति में भी जागरण था तो इस पार जागरण में भी अभी सुषुप्ति थी। और उस पार वहां नेपाल राज्य का आरम्भ था तो इस पार यहीं भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का अन्त था !

× × ×

साहब के नाश्ता खा चुकने पर हुसेनी जब जूठे बरतन लेकर बावर्चीखाने की तरफ जाने के लिये बंगले की सीढ़ियों से उतर रहा था, सूर्य की धूप उसके चेहरे पर पड़ी और उस पार से आ रहे संगीत के कुछ शब्दों का प्रथम बार उसके कानों को भी परिचय मिला। बावर्चीखाने के दरवाजे तक पहुँचते-पहुँचते उससे न रहा गया। नदी-पार के पलाश वृक्ष की ओर उंगली उठा कर बोला, 'जान पड़ता है रात में भी वहाँ बैठकर 'रीं-रीं-रीं-रीं' यही फटीचर कर रहा था। इसने तो रात-भर मेरी नींद ही हराम कर डाली, झकरी भाई ! सुनते हैं कि ऊपर की पहाड़ियों से उतर कर सिंह-बाघ रात में पानी इसी पेड़ के पास पीने आते हैं। जान पड़ता है इस रात नेपाली शेरों को प्यास ही नहीं लगी, नहीं तो बच्चू की सारी 'रीं-रीं' गायब हो जाती।'

'तुम कुछ नहीं समझते हो हुसेनी !' झकरी ने कहा, 'वहां रात में 'रीं-रीं' यह क्या खाकर करेगा ! इसका बाप भी नहीं कर सकता। हम तो यहां आज बीस साल से आ रहे हैं। उधर के लोग दूर-दूर से उसी जगह अपने मुर्दे जलाने आते हैं। वह जगह मसान है, मसान ! रात में हमारी नींद भी खुली थी।

अँजोरिया डह-डह फैली हुई थी और उसी पेड़ के नीचे बैठी कोई जनाना गा रही थी। हाय रे ! उसका वह कैसा गजब का गीत था ! कोई दूसरा होता तो उसके सुर में बंध कर वहां जरूर चला गया होता। लेकिन हम तो सब जानते हैं। वह जोगिनी थी, जोगिनी ! और जब वहां कोई सिंह आ जाता तो वह उसकी पीठ पर बैठ कर एकदम सिंहवाहिनी बन जाती है। जो कोई उसके गाने में फंसकर वहाँ चला गया, बस गया उसके पेट में ! तुम हुसेनी ! अभी बच्चे हो। भले हो कालामाटी और रैंमून घूम आये हो। अच्छा हुआ, जो रात में खाट छोड़ कर उठे नहीं।'

'लेकिन सबेरे-सबेरे रे-रे तो यही कह रहा है न झकरी भैया ! महराज रामचन्नर को और बेद-पुरान-कुरान सब को रे-रे कह रहा है। तुमको सुनाई देता है न ?' हुसेनी ने कहा। वास्तव में पद के प्रथम चरण की दूसरी पंक्ति 'करि विचार, तजि विकार, भजु उदार रामचन्द्र भद्रसिन्धु, दीनवन्धु, वेद बदत रे !' गाने वाला रह-रह कर दोहराता था और रामचन्द्र, बेद और रे-रे बस कुल तीन ही शब्द विचारे हुसेनी के असंस्कृत कानों की पकड़ में आ पाते थे।

'कोई औवड़ है, औघड़ !' जैसे एकदम नतीजे पर पहुँचकर कहते-कहते हुसेनी बावर्चीखाने में बर्तन रखने लगा और बर्तन रखकर वह बाहर निकला था कि उधर साहब बंगले के बाहर आ गये। उसी समय उस पार से आ रहे पद के अगले निम्न शब्द साहेब के सुसंस्कृत कानों में पहुँचने लगे —

मोहमय कुहू निसा विसाल काल विपुल सोयो,
खोयो सो अनूप रूप सुपन जो परे।
अब प्रभात प्रगट ज्ञान-भानु के प्रकास,
वासना, सराग मोह-द्वेष निविड़ तम टरे ॥

साहब ने एक बार पल भर नदी के पार की ओर आंखें उठा कर फिर बावर्चीखाने की तरफ देखा। फिर अपने अर्दली को निहारा और तत्काल वह अपने खास लहजे में 'हजोर' कहकर झुक-झुक सलाम करता दौड़ता हुआ उनके पास आकर खड़ा हो गया। अपने पेशकार के कमरे की तरफ उंगली उठा कर उन्होंने संकेत से अर्दली से कुछ पूछा। झकरी लपक कर दबे पांव उस कमरे के पास गया और दरवाजे पर कान रख कर कुछ देर वहीं खड़ा रहा। फिर धीरे से किवाड़ हटा कर अन्दर झांका और उसी तरह किवाड़ भिड़ा कमरे की सांकल चढ़ा, हवा में कुछ गोल-गोल-सा हाथ घुमा साहब के पास आकर चुपचाप खड़ा हो गया।

साहब ने झकरी भगत* को कमरे के दरवाजे की सांकल लगाते देख कर यह समझ लिया था कि उनके पेशकार अपने कमरे में नहीं थे। पर झकरी ने साहब के बिना कुछ बोले ही वह क्या करना चाहते थे समझ लिया। पढ़े-लिखे लोग बोले हुए शब्दों द्वारा ही मनोभाव समझने के अभ्यस्त होने के कारण इंगित और आकार से ही मन के भाव आंक लेने की मानव की स्वाभाविक शक्ति खो बैठते हैं। किन्तु झकरी पढ़ा-लिखा न था। उसकी वफादारी ने स्वामी की मनोदशा की हर चढ़ती-उतरती लहर को ठीक-ठीक समझ लेने की शक्ति उसके हृदय में अच्छी तरह सुरक्षित कर रखी थी। पिछली शाम को साहब और पेशकार के बीच अंग्रेजी में जो कुछ बातें हुई थीं उसके मर्म को भी झकरी ने काफी समझ लिया था। रात में जब पेशकार अपना भोजन पका रहे थे उस समय की उनकी नित्य से विपरीत गम्भीर मुद्रा में भी उसने कुछ भांपा था। उसने कहा, 'हजोर ! कमरे में जूता, पगड़ी, छड़ी-छाता सब तो जैसे का तैसा धरा है। पेशकार बाबू साथ कुछ भी नहीं ले गये। रात में भी यहां नहीं थे हजोर ! झमेले की बात है।' फिर कुछ ठहर कर बोला, 'थोड़ी दूर पर एक मन्दिर है। वहीं गये होंगे। मैं खोज लाता हूँ।'

'अच्छा, हम सैर को जाता है'—साहब ने कहा।

भागे मद-मान चोर भोर जानि जातुधान,
काम-क्रोध-लोभ-छोभ निकर अपडरे।
देखत रघुवर प्रताप बीते संताप-पाप,
ताप त्रिविध प्रेम आप दूर ही करे॥

साहब ने एक निगाह फिर नदी के उस पार डाली और मुड़कर बँगले के बाहर ढाल पर उतरने लगे।

[दोपहरिया]

गोरखपुर कमिश्नरी का बड़ा साहब कमिश्नर पाइक सैर को जा रहा था। साहब इन दिनों दौरे पर निकला है। आज तीन दिन से वहां कमिश्नर का डेरा

*झकरी, जकारिया, खुसरो, खिजर। कैसर, जार, सीजर, काइजर तथा संस्कृत का केसरी (सिंह) एक ही मूल शब्द के भिन्न-भिन्न रूप हैं। गोरखपुर में हिन्दू, मुसलमान और ईसाई तीनों ही के झकरी नाम हमने सुने हैं। पुराने लोगों में हुसेनी नाम के कितने ही हिन्दू वहां अब भी मौजूद हैं।

पड़ा हुआ है। बंगले के नीचे ढलाव से सटे मैदान में अनेक खेमा-तम्बू तने हैं जिनमें पुलिस के दरोगा, कानूनगो, तहसीलदार, दर्जनों साहब-सूबा कमिश्नर साहब की अवाई (आगमन) के तीन दिन पहिले ही से सब इन्तजाम फिट रखने के लिए वहां डटे हुए हैं।

उस ओर से साहब को निकलते देख पलक मारते ही सब छोटे-बड़े एक कतार में खड़े हो गये और लगे झुक-झुक कर साहब की तरफ अपने-अपने सलाम बिछाने! किन्तु जैसे भूखा न रहने पर जंगल में शेर मेमनों की तरफ आंख उठा कर ताकता तक नहीं वैसे ही साहब ने भी किसी की तरफ नहीं देखा।

वह एक जमाना था कि जब कमिश्नर छोटा लाट होता था और मिस्टर पाइक वह कमिश्नर थे जिनके बंगले के हाते के भीतर बड़े-बड़े लखपती और करोड़पती रईसों तक की जोड़ी-फिटिन नहीं जा सकती थी। हर किसी को सवारी सड़क के किनारे लगा कर बंगले के हाते के भीतर पैदल ही जाना पड़ता था।

जिस समय मिस्टर पाइक अपने भक्तों की बगल से एकदम अनासक्त भाव से निकले चले जा रहे थे उस पार पलाश वृक्ष के नीचे पड़ा वह कोई अपने गीत का अन्तिम पद समाप्त कर रहा था —

श्रवण सुनि गिरा गंभीर जागे अति धीर वीर,
वर विराग तोष, सकल सन्त आदरे।
तुलसिदास प्रभु कृपालु निरखि जीव-जन विहालु,
भंज्यो भव-जाल परम मंगलाचरे॥

गीत समाप्त कर वह आदमी उठ बैठा। डाली पर सूखने के लिए फैलाये हुए अँगौछे को पहिना, कम्बल ओढ़ लिया और अपनी मैली चादर की सिर पर पगड़ी बाँध कर एक बार इस पार बंगले की तरफ देखा। बावर्चीखाने का धुआं ऊपर उठ रहा था। किन्तु जिस प्रकार भूखा होने पर भी सिंह दूसरे के मारे हुए शिकार को उपेक्षा की दृष्टि से देखता चला जाता है उसी प्रकार वह पुरुष भी उत्तर ओर पहाड़ी में अतिदूर बसे स्वतन्त्र देश के स्वतन्त्र गांव की तरफ संभाल-संभाल कर पग रखता हुआ चला गया।

घंटे पौन घंटे बाद साहब टहल कर लौटे पर अर्दली झकरी अभी नहीं लौटा था। आध घंटे बाद जब झकरी लौटा तो उसे देखते ही नदी पार के पलाश-वृक्ष

की ओर संकेत करके हुसेनी ने हड़बड़ा कर कहा, 'तुम ठीक कहते थे झकरी भैया ! वह गायब हो गया है।'

अर्दली ने साहब के पास जाकर कुछ कहा। साहब ने उसके साथ आकर पेशकार के कमरे की सांकल खुलवाई। अपनी आंखों से पेशकार का सामान देखा। फिर सांकल चढ़वाकर कमरे में ताला बन्द करवाया और तब बंगले में गये। दोपहर के भोजन का वक्त हो गया था। भोजन किया और जब पाइप में तमाखू भर कर पीने लगे उस समय पहिली बार अपने पेशकार के सम्बन्ध में उन्हें चिन्ता हुई। क्षण भर के लिए उन्हें पाइप तमाखू की खुश्क और उसका धुआं कड़ुवा लगा। वे कुछ सोचने लगे। शायद पेशकार के प्रति अपने अनुदार व्यवहार के विषय में। वे शायद यह मन ही मन स्वीकार कर रहे थे कि पेशकार के साथ उन्होंने थोड़ी ज्यादती की। एतवार सब के लिए छुट्टी का दिन होता है। पेशकार एतवार की ही छुट्टी तो माँगता था। काम भी कुछ ऐसा खास नहीं था। फिर भी उन्होंने उसे छुट्टी क्यों न दे दी ? पेशकार के बहुत जिद पकड़ लेने पर जब उन्होंने एतवार को उसे बाहर रहने की अनुमति भी दी थी तो यह कह कर कि सनीचर के बारह बजे रात के बाद ही एतवार शुरू होता है। पेशकार ने भी बात पकड़ ली थी। काम न होने पर भी मिस्टर पाइक भी बारह बजे रात तक जागते रहे, यह जानने के लिए कि देखें पेशकार बारह बजे रात के बाद कहां कैसे जाता है। पेशकार बारह बजे रात के बाद ही डाक बंगले के बाहर गये थे। मिस्टर पाइक को यह पक्का यकीन हो गया था कि अब एतवार को बारह बजे रात के पहिले पेशकार लौट कर नहीं आयेगा। फिर उन्होंने सोचा कि रात में अगर उसे शेर खा गया तो ! उस इलाके में तो शाम होते ही शेर की दहाड़ सुनाई पड़ा करती थी ! झकरी ठीक कहता था। सचमुच झमेले की बात हो गयी। बिचारा पेशकार ! कैसा विनम्र, गंभीर और काम में पाबन्द। एकाएक किस काम के लिए छुट्टी लेने की उसने ऐसी जिद पकड़ ली थी ? उसे यहाँ अचानक उन्माद तो नहीं हो गया ? कमिश्नर साहब को पहली बार अपने पेशकार के ऊपर बड़ी दया आयी।

जिस समय साहब को इस तरह के विचार पीड़ित कर रहे थे, अर्दली झकरी ने देखा कि सिर पर एक गठरी धरे और एक हाथ में जलता हुआ उपला और दूसरे में एक हांडी लिए एक आदमी नदी के उस पार गाँव की तरफ से आकर उसी पलाश-वृक्ष के नीचे खड़ा है। फिर वह पुरुष सिर से गठरी

उतार कर उसमें से उपले निकाल एक अहरा तैयार करता है और हांडी में नदी से पानी ला उसे अहरे पर रख कर उसमें कुछ अन्न छोड़ देता है। फिर जमीन पर कम्बल बिछा कर उस पर लेट कर कुछ गुनगुनाने लगता है।

हांडी हाथ में लेकर जिस समय वह पुरुष नदी में जल लाने जा रहा था उस समय उसके ललाट के चौड़ेपन को देखकर अर्दली को न जाने क्यों अकस्मात उस व्यक्ति में अपने पेशकार बाबू की झलक दीख पड़ी। उसे एकदम निश्चय हो गया कि वह अन्य कोई नहीं उसके पेशकार बाबू ही हैं। पेशकार बाबू साज-सज्जा में बड़े पाबन्द, बोल-चाल में बड़े शिष्ट और गंभीर तथा काम-काज में सोलहो आने मुस्तैद। एक बड़े चाक-चौबन्दा व्यक्ति होते हुए भी आज ऐसे फटे हाल क्यों बन गये हैं। यह बात झकरी की बुद्धि में समा नहीं रही थी। उसने पेशकार बाबू की ऐसी अवस्था की स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी। उसे एक बड़ी अस्पष्ट वेदना हुई और वह दौड़कर साहब के पास बंगले के भीतर गया। तत्काल साहब अपना दूरदर्शक-यंत्र हाथ में लिए बाहर आ गये और उस यंत्र को बार-बार नदी के उस पार की तरफ घुमा-घुमा कर बोले, 'ओह! पेशकार! वहां क्या कर रहा है?' उन्हें निश्चय हो गया कि पेशकार को अचानक किसी प्रकार का उन्माद हो गया है।

'ओह! पेशकार बाबू' झकरी ने भी मन ही मन कहा। अब झकरी के विचारों में सबसे प्रमुख बात पेशकार बाबू के सम्बन्ध में उसके संगीत की अलौकिक स्वर-मधुरता थी। मन ही मन उसने कहा 'ऐसे कलावन्त हैं हमारे बाबू जी!' जिसे उसने रात में जोगिनी समझा था वह उसके पेशकार बाबू निकले और वह गजब गीत भी वे ही गा रहे थे। हुसेनी खानसामा के शब्दों में प्रभात का रे-रे वाला नहीं, रात का कोई 'री-री' वाला गीत। काश कि वह गीत कभी वह एक बार फिर सुन पाता, वह मन-ही-मन कामना कर रहा था। निदान दो बजते-बजते उस पार खिचड़ी तैयार हुई और उसे खाकर वह पुरुष उसी कम्बल पर पीठ के बल लेट कर फिर गुनगुनाने लगा।

इस पार झकरी और हुसेनी उस पार की सारी कार्रवाई बड़े गौर से देखते और साहब को उसकी सूचना देते रहे।

कमिश्नर पाइक ने अब कुछ करना निश्चित किया। नदी में पानी बहता तो रहता था, किन्तु जगह-जगह सूखा था और बड़ी आसानी से इस पार से उस पार

जाया जा सकता था। साहब नदी लांघ कर उस पलाश वृक्ष के नीचे जा खड़ा हुआ। उसके पीछे-पीछे उसका अर्दली झकरी भी गया था।

कुछ देर तक चुपचाप खड़े रहने के बाद कमिश्नर साहब ने पूछा 'मिस्टर प्रसाद ! इस तरह यहाँ क्या करता है ?' मिस्टर प्रसाद ने कोई जवाब न दिया। वे अपने भजन के आनन्द में मग्न पलकें बन्द किये पूर्ववत् गुनगुना रहे थे। कमिश्नर को सिरहाने से पैताने आना पड़ा। इस बार कमिश्नर के तनिक जोर से प्रश्न करने पर उनकी पलकें खुल गयीं। उन्होंने केवल मुस्करा दिया। वे सचमुच पेशकार ही तो थे, किन्तु यह मुस्कान पेशकार की नहीं उनमें प्रतिष्ठित किसी दैवी पुरुष की थी जिसकी पवित्र धारा के सामने जगत् का कोई कलुष टिका नहीं रह सकता।

'मिस्टर पाइक ! आज मेरे जीवन के ये एक-एक बड़े अनमोल क्षण हैं। मेरे आनन्द में कोई बाधक न बने'—पेशकार ने लेटे ही लेटे बड़ी विनम्रता से कहा।

साहब की समझ में कुछ नहीं आ रहा था। 'यह क्या बात है ? तुम किस वास्ते यहाँ आया है ?' उन्होंने पूछा।

'यह देखने के लिये कि स्वतन्त्र देश की वायु कितनी पवित्र होती है, पानी कितना मधुर होता है और धूप कितनी तेजस्वी होती है। मिस्टर पाइक ! पराधीन देश में जीवन भर गुलाम बना रहने के लिये पैदा हुआ, यह नाचीज अब तो अधिकार के साथ इतना कह ही सकेगा कि कम से कम जिन्दगी का एक दिन इसने भी स्वतन्त्र देश में बिताया है।'

'ओह ! यह बात !' मिस्टर पाइक के मुंह से निकल पड़ा और कुछ क्षण तक वे चुपचाप तन कर खड़े रहे। कोई दो मिनट तक उनमें से कोई कुछ भी न बोला। फिर मिस्टर पाइक ने एकाएक अपना हैट सिर से उतार कर पेशकार को सलूट किया और बोले, 'तुम बेशक बड़ा आदमी है।'

अब पेशकार को लेटा न रहने दिया गया। साहब ने उसे खुद अपने हाथों का सहारा देकर उठाया। उसका कम्बल भी समेट कर स्वयं तह करने लगे थे कि अर्दली ने उसे उनके हाथों से ले लिया। साहब अपने पेशकार को साथ लेकर ही इस पार लौटा।

उस दिन से कमिश्नर वह कमिश्नर न रहा, एक स्वाभिमानी भारतीय ने 'छोटा लाट' को सदा के लिये विनम्र बना दिया। कहते हैं उस दिन के बाद से कचहरी में कमिश्नर के आने पर पेशकार जब उनके सम्मान में खड़े हो जाते तो साहब कुर्सी पर तब बैठता जब पहिले पेशकार बैठ जाते थे। उन दोनों का यही पारस्परिक समझौता था और जहां-जहां मिस्टर पाइक कमिश्नर बदल कर गये वहीं अपने संग अपने पेशकार को भी तबादला करा के लेते गये।

और कमिश्नर साहब के आग्रह करने पर दूसरे दिन भोर में पेशकार साहब ने अपना वह गीत जिसे वह रोज सवेरे नींद खुलते ही खाट पर लेटे-लेटे धीरे-धीरे गुनगुनाया करते थे, अच्छी तरह खुलकर गाया—

माई री ! हौं गोविन्द गुन गाऊँ।
गोकुल की चिन्ता मनि माधो जो मांगों सो पाऊँ॥
जब ते कमलनैन व्रज आए सकल संपदा बाढ़ी।
नन्दराय के द्वारे देखौ अस्ट महासिधि ठाढ़ी॥
फूलइ फरइ सदा वृन्दावन कामधेनु दुहि पीजै।
मारुत मेघ इन्द्र बरखा में कृष्ण कृपा सुख लीजै॥

झकरी अर्दली पेशकार बाबू के कमरे के द्वार पर किवाड़ के पास चुपचाप खड़ा हो संगीत की उस स्वर-लहरी में मग्न हो रहा था और उस पद का अन्तिम चरण—

कहति जसोदा सखियनि आगे हरि उतकर्स जनावै।
'परमानन्ददास' कौ ठाकुर मुरलि मनोहर भावै॥

समाप्त होते-होते एकदम कमरे में घुसकर उनके चरणों पर गिर पड़ा। रोते-रोते बोला, 'हमको क्षमा करना स्वामी ! इस अधम ने सरकार का चोला नहीं पहिचाना था !'

[तिजहरिया]

देव स्वामी का हमारा प्रथम साक्षात्कार सन् १९३९ ई० में पंडित देवकली दीन जी शर्मा* के निवासस्थान, अपनी ससुराल सुल्तानपुर (उत्तर प्रदेश) में हुआ

*पण्डित देवकली दीन उपाध्याय, बी० ए०, एल० एल० बी०, सुलतानपुर (अवध) के प्रसिद्ध आर्य-समाजी और कांग्रेस के विख्यात और तपे हुए सेवक। इस समय वहां के जिला परिषद के अध्यक्ष।

था। उस समय वे ७० वां वर्ष पार कर चुके थे और महात्मा देवकली प्रसाद बजते (कहलाते) थे। बाबू देवकली प्रसाद जी का जन्म सन् १८६६ ई० में फैजाबाद जिले में खजूरहट से छः मील दूर एक गांव में दूसरे श्रीवास्तव कायस्थ कुल में हुआ था। सन् १६२३ में उन्होंने कमिश्नर के चीफ रीडर (पेशकार) के पद से पेंशन ली थी। पेंशन लेने के बहुत पूर्व से ही वे आर्य-समाज के एक दृढ़ स्तम्भ बन चुके थे और आर्य जगत् में महाशय देवकली प्रसाद की याद अभी कुछ लोगों को होगी। पिछले आठ-दस वर्षों से उन्होंने वैराग्य ले लिया था और देव स्वामी कहलाते थे।

महीना जून का था जब महात्मा देवकली प्रसाद मेरे श्वसुर जी के घर पधारे थे। दो दिन पहिले ही मुझे उनके आगमन की सूचना दी जा चुकी थी। मैं भी बड़ा उत्सुक था उनके दर्शनों के लिए। मस्तक पर शुद्ध खद्दर की पाग एकदम कस कर बंधी हुई, प्रशस्त ललाट, जिसपर पसीने की बुदकियों की एक जाली बुनी-सी, बड़ी-बड़ी आंखें जो बहत्तर वर्षों की धूप-छाँह झेलकर भी अत्यन्त स्वच्छ और चमकती हुई, भरपूर और पतले-पतले चुस्त सटे हुए होठों के भीतर से मानो आनन्द के पूर्ण पात्र की पसीजन के रूप में अविरल प्रवाहित मन्द-मन्द मुसकान की एक धारा! कौन था जो उस महर्षि के सम्मुख अनायास नत-मस्तक न हो जाता! किन्तु मेरे हाथ उन्होंने पकड़ लिये। बोले, 'आप हमारे जामाता हैं। हमें आपका चरण-स्पर्श करना चाहिये। नमस्ते!' ससुराल में दामाद की इज्जत तरुण तपस्वी के रूप में होती है। तरुण तपस्वी और वृद्ध तपस्वी की अच्छी भेंट हुई। दो-तीन दिनों का उनका सत्संग जीवन में कितनी ही प्रेरणाओं का विधाता बना।

महरा न रहता तो कुएं की जून महीने की गहराई से बहत्तर वर्ष की उम्र में अपने लिए जल काढ़ने में उन्हें तनिक आलस्य न था। मुझे अपने लिए कुएं से पानी न खींचने देते। इतिहास के विशेषत: अनुश्रुत इतिहास के, जिसके संगम बिना लिखित इतिहास एक प्रकार से निर्जीव ही रहता है, वे प्रकांड पंडित थे। अनुस्मृतियाँ और आख्यानों के वे मूर्तिमान भांडार थे। ऐसे तो देवकली दीन और देवकली प्रसाद दोनों ही देवकुलिक* माने जा सकते हैं। किन्तु 'दीनजी' 'प्रसादजी' को "देवजी" कहते और देवतुल्य ही उनमें श्रद्धा भी रखते थे। 'दीन' और

---

* हमारी मान्यता है कि देवकली शब्द 'देवकुलिक' का अपभ्रन्श है। 'देवकुलिक' के लिये देखिये चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का लेख 'देवकुल'।

'देव' की जोड़ी लक्ष्मण और राम की जोड़ी नहीं कही जा सकती थी। राम और शत्रुघ्न की भी नहीं, क्योंकि देव जी दीन जी से कम से कम तीस-बत्तीस वर्ष बड़े थे, किन्तु इन दो देवकुलिकों, इन दो आर्य रत्नों की जोड़ी बड़ी दुर्लभ और अद्वितीय थी।

कहते हैं कि जीवन के मध्याह्न की प्रखरता में देव जी की ओजस्विता प्रायः उग्रता की सीमा तक पहुँच जाया करती थी, यद्यपि सुसंस्कार और संयम का उनमें कभी अभाव दृष्टिगोचर नहीं हुआ था। किन्तु जीवन में जिस अवस्था में हमने उन्हें देखा था वे मृदुलता और करुणा में पिघलते हुए दीख पड़ते थे, मानो चांदनी में पिघलती हुई चन्द्रकांत मणि।

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में वे संन्यासी हो गये और पर्यटन करते थे। उन्हीं दिनों की बात है एक बार सुल्तानपुर आये और दो-तीन दिन रहकर वहीं से हरद्वार गये हुए थे। हरद्वार में दो-ढाई महीने रहने का निश्चय करके गये थे। इसी बीच किसी समय का उनके लिए उनका एकलौता पुत्र और उस समय भी दुनिया की निगाह में वे अपने जिस बेटे के पिता थे, उसे, उससे राग-द्वेष रखने वाले गाँव के किसी पैसे वाले ने, रात्रि के समय घर के भीतर सोते हुए, मरवा डाला। गाँव की बाजार में 'कोटे' का कपड़ा बेचने के लिए उसे एक दूकान रखने की अनुमति मिली हुई थी। बिचारे का सारा परिवार अनाथ हो गया। उधर जिस पैसे वाले ने उसकी हत्या करायी थी वह हत्यारों को बचा लेने के लिए पानी की तरह पैसे बहा रहा था और अन्त में अपने पैसों के जोर से मामले को बिना सबूत का होने के कारण दाखिल-दफ्तर करा देने में सफल भी हो ही गया।

जिस समय यह अनर्थकारी घटना घटी और जितने दिनों में यह सब धाँधलियाँ कामयाब हुईं, स्वामी जी हरद्वार में ही रहे। हरद्वार में स्वामी जी को इस दुर्घटना की खबर करने की, 'दीनजी' के कारण, सुल्तानपुर के इनके भक्तों में से किसी की हिम्मत नहीं हुई। जब वे सुल्तानपुर आ गये तो एक दिन प्रवचन समाप्त होने के बाद उनके किसी उपासक ने दबी जबान से उस हृदय-विदारक घटना की चर्चा कर दी। उत्तर में स्वामीजी ने मुस्करा कर केवल इतना कहा—'तो आप यह सब मुझसे कौन-सी आशा लगाकर कह रहे हैं?'

और जब उनकी दृष्टि में निर्वाण का समय निकट आ गया तो अपने

'दीनजी' के पास सुल्तानपुर आकर बोले, 'मुझे अब कहीं नहीं जाना है। मुझे पूर्ण शान्ति के साथ मरण तुम्हारे ही समीप प्राप्त होगा, इसी से यहाँ चला आया हूँ। 'दीनजी' ने उन्हें अग्रज ही नहीं वस्तुतः पिता के समान माना और उनकी बराबर अत्यन्त तन्मयता के साथ सेवा की। महाप्रयाण की अन्तिम घड़ियों तक किसी को यह सन्देह न हो पाया कि देव स्वामी देवलोक की यात्रा के लिए तैयार खड़े हैं। संध्या को भोजन लाने वाला जब भोजन लेकर गया तो उससे बोले, 'आज भोजन न करूँगा।' फिर कुछ सोचकर मुस्कराये और बोले, 'पंडितानी जी को मत बताना। आज यह भोजन तुम खा डालो।' उस समय भी दो-चार उनके भक्त वहाँ बैठे थे, क्योंकि जीवन के अन्तिम क्षण तक ज्ञान का वितरण करते रहना ही उनका सबसे प्रिय अनुष्ठान और संकल्प था। किसी दिन अनवरत वर्षा अथवा अत्यधिक शीत के कारण यदि एक अकेला श्रोता ही उनके पास आ जाता तो भी वे अपना प्रवचन पूर्ण तन्मयता के साथ आरंभ कर देते थे।

और दूसरे दिन १२ फरवरी (१९५५) को प्रातःकाल लोगों ने सुना कि देव स्वामी ब्रह्मवेला में योगासन पर बैठे-बैठे देवलोकवासी हो गये।

कैलासवासी होने के कुछ महीने पूर्व एक बार देवस्वामी को जब मैंने देखा तो उस दिन मुझे व्यथा हुई। किसी समय स्वास्थ्य, संयम, मनस्विता तथा ओजस्विता की साकार प्रतिमा को उस दिन उस विगलित अवस्था में देखकर प्रतिमा-पूजन में मेरा विश्वास अटल हो गया। पत्थर की प्रतिमा बोलती नहीं तो क्या? डोलती नहीं तो क्या? ऐसी जीर्ण और विगलित तो कभी नहीं होती।

[सन्ध्या और रात]

१४ नवम्बर, १९५५ की सन्ध्या। श्वसुर जी की बीमारी का पत्र पाकर मैं सुल्तानपुर गया था। उन्हें देखने उनके सहयोगी वकील मित्र रोज ही उनके घर आया करते थे। उस सन्ध्या को भी कई वकील उनके पास बैठे हुए थे। उसी दिन वकालतखाने में एक वकील ने जो किसी समय जिला बोर्ड के अध्यक्ष रह चुके थे और वह स्थान यदि रिक्त हो जाय तो अब भी जिला बोर्ड का अध्यक्ष हो जाने की आशा जो बराबर संजोये रहते हैं, पंडित देवकलीदीन जी के स्वास्थ्य के संबंध में बड़े कुतूहल के साथ जिज्ञासा की थी। एक दूसरे वकील साहब ने उनको जिस प्रकार से उत्तर दिया था उस बात की भी श्वसुर जी के सामने चर्चा छिड़ गयी। जिन वकील साहब ने जिला बोर्ड के उन भूतपूर्व अध्यक्ष महोदय को

एकदम 'निराशाजनक' उत्तर दिया था वे स्वयं भी वहाँ उपस्थित थे। अन्त में उन्हें वह स्वकथन स्वमुख से उच्चारित करना पड़ा। उनका कहना था कि गत फरवरी महीने में जब यम के दूत पंडित जी के पास आये थे तो उन्हें देखते ही पंडित जी एकदम बिगड़ खड़े हुए और बोले तुम लोग बड़ी गलती कर जाया करते हो। अरे, यह मैं नहीं, देवस्वामी हैं। उनका भी नाम देवकली ही है। बस, यम के दूत लौट गये और देवकली प्रसाद (देव-स्वामी) को ले गये। सो अब यम के दूत भी जब देवकली दीन जी के इशारे पर काम करने लगे तो बाबू साहब ! आप क्या उम्मीद रख सकते हैं ?'

वकीलों का समुदाय तो इस बात के खतम होते-होते हँस-हँसकर लोट-पोट होने लगा और मुझे यह देखकर बड़ी वेदना हुई कि कैसे एक महापुरुष का मरण भी वकीलों के हास्य का आधार बन रहा था।

उसी रात मुझे एक बड़ा विचित्र स्वप्न हुआ।

तीन मार्च, १९५५ ई० को मेरे पूज्य पिता जी ८५ वर्ष की अवस्था में परलोकवासी हुए और उसके अट्ठारह-उन्नीस दिन पूर्व १२ फरवरी को देव स्वामी दिवंगत हुए थे। उस रात स्वप्न में मुझे वे दोनों ही दीख पड़े। अलग-अलग नहीं, एक साथ एक ही रूप में एक ही में दोनों ही। निद्रा टूट कर भी पूर्णतया नहीं टूट पायी थी। न जाने कब तक हिचकी आती रही। तकिया आँसुओं की धारा से भीग गयी थी और तब प्रथम बार यह स्पष्ट हुआ कि मानव का स्थायित्व नश्वर शरीर में नहीं उसकी आत्मा की प्रेरणा में है जो प्रस्तर, लौह या बज्र से भी अधिक पुष्ट और अविनासी है।

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवाअग्रे तदब्रुवन्।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यातस्य देवा असन्वशे॥

४ : रोष का लावण्य

० ० ०

विपत्ति में धैर्य और अभ्युदय में क्षमा शास्त्रों में भले मानसों का एक विशिष्ट लक्षण कहा गया है। किन्तु फी जमाने में शायद सभी बातों का उलटा पड़ जाना युग-धर्म ही हो जाने के कारण आज अच्छे लोग भी विपत्ति में विचलते, बिछलते या साहस तजकर दयनीयता प्रदर्शित करते ; और अभ्युदय के क्षणों में मचलते, मसलते या असहनशील होते पाए जाते हैं। 'बातन हाथी पाइयां, बातन हाथी पांय।' अर्थात् आदमी बात ही के बदौलत हाथी पुरस्कार में, और बात ही के बदौलत हाथी पांव अभिशाप में प्राप्त करता है, यह कहावत सदा से एक सनातन सत्य रही है। बात तो है। जीभ के प्रलोभनों से, चाहे वह प्रलोभन सुन्दर थालियों या प्लेटों को सामने परसा देखकर उत्पन्न होने वाला हो, अथवा सुन्दर सरस वाणी द्वारा कानों के लिए अति सुखद शब्दों के श्रवण से उत्पन्न होने वाला हो, मानव-तन-धारी कोई भी प्राणी एकदम अछूता बचा न होगा। यह दूसरी

बात है कि आज वह कहावत प्रायः 'रीझे हाथा-पाइयां खीझे हाथी पांव' बन रही है। अर्थात् रीझने पर भी हाथा-पाई यानी दोस्ती में कुश्ती है; और खीझने पर तो सौ प्रतिशत (१००%) हाथी-पांय (यानी हाथी के पैर के नीचे कुचलवा कर पाश-पाश करा डालना) है ही।

पर मेरी बात गलत साबित करने के लिए यदि आप कहते हैं कि तुलसीदास ने तो अपने युग के देवताओं को 'हाथी-लेवा स्वान-देई' अर्थात् हाथी बराबर सेवा लेने वाला और एवज में श्वान के इतना ही प्रसाद देने वाला कहा है, किन्तु हमारे युग के हमारे चले गए गोरे देवता देने के नाम में रीझने पर तीन चीजें— थैन्क्स, गुडबाई और सार्टिफिकेट—दिया करते थे, और वर्त्तमान देवता खीझने पर आपके ऊपर अपने कुत्तों (जहरीला, गन्दा प्रचार करने वाले अपने एजेंटों) को भले ही छोड़ दें, वे चाहने पर भी हाथी क्या हाथी-पांव (हाथी का पांव) भी नहीं दे सकते, क्योंकि इस घोर राशनिंग-युग में बिचारे हाथी रह ही कहां गए हैं। पर लेने में ये तुलसी-युग के देवताओं की तरह हाथी लेते कहां हैं? ये तो बस जरा-सी हाजिरी, और तनिक-सी हाजिर-जवाबी (एफ, एल, ए, डबल टी, ई, आर, वाई!) के सिवा आपसे चाहते ही क्या हैं? अतः हमारे युग के हमारे देवता तुलसी के युग के उनके देवताओं से हर हालत में बीस हैं। तो आपकी ये सब बातें सुनकर मैं कहता हूँ: जी हां, आप ठीक कह रहे हैं, बीस ही नहीं, येखब्बीस हैं।

बहुत दिन हुए मैंने कहीं पढ़ा था, या किसी बुजुर्ग का कहा सुना था कि किसी देश के निवासियों का, बूढ़ों, बच्चों और स्त्रियों के साथ जिस तरह का सलूक रहता है उससे ही उस देश की सभ्यता की असलियत का पता लगाया जाता है। मेरा निवेदन है कि यदि किसी देश की सभ्यता की परिपक्वता को केवल एक बात से आंकना हो तो यह देखिए कि उस देश के लोगों का अपने शत्रुओं के साथ, और अपने रोष के क्षणों में कैसा बर्ताव रहता है। यह बात जरा कड़ीहै, फिर भी कहनौत (कथनोचित) है, और सुन लेने लायक है कि अपने रीझ के क्षणों में अपरिचित के साथ, और नित्य ही अपने दोस्तों के साथ जिस फड़कती और उमड़ती दरियादिली से, तलवार पर कलेजे के बल जरूरत पड़ने पर चलकर, चोर-चांई और डाकू-बदमाश दोस्ती का हक अदा करते हैं, उस दिलावरी और दिलेरी की हम पढ़े-लिखे सभ्य लोग स्वप्न में भी बराबरी नहीं कर सकते। यह पंक्तियां लिखते समय मुझे "प्रौस्पेर मेरेमी" की 'करामान'

और 'बदमाश-दर्पण' के तेगे अली साहब का स्मरण हो रहा है जो सौंदर्य की अपनी रीझ के लिए होंठ पर ही तलवार खाया करते थे। कमाल है भाई! कमाल है। दुनिया तो सिर पर, हाथ पर, पीठ और छाती पर तलवार झेलती है, लेकिन आप अपने होठों पर। उनके ही शब्दों में सुनिए न :—

भौं चूमि लेइला, के हू सुन्दर जे पाईला।
हम ऊ हई जे ओठे पर तरुआर खाईला॥

वास्तव में हम बर्बर चोर-बदमाशों की जिस बात में, बराबरी करना कौन कहे, उन्हें योजनों पीछे छोड़ सकते हैं, वह है रोष के क्षणों में और शत्रुओं के साथ होने वाले हमारे व्यवहार।

सच पूछिए तो मानव-इतिहास का आधे से अधिक पृष्ठ उसके तोष और रोष, उसकी मित्रता और शत्रुता के आचरण की कहानियों से ही अनुरंजित है। धन-सम्पत्ति, मान-प्रतिष्ठा और सुख-सुविधा की तो कोई बात ही नहीं, एक मित्र की अनुपस्थिति में, उसके इकलौते बेटे के कतल के मुकदमे में फंस जाने पर, दूसरे मित्र का जिसके दो पुत्र थे, अपने एक पुत्र को अपराध स्वीकार कराकर मित्र के पुत्र की जगह फाँसी पर चढ़ जाने के लिए, राजी करने का वृत्तान्त मैंने पढ़ा है। पुत्र को ही नहीं, समय पड़ने पर, मित्र के लिए मित्र अपनी पत्नी, भाई और निज तक को उत्सर्ग करते आए हैं। पुराने लोगों का यही कहना था कि : "हमें यार की यारी से मतलब है, न कि उसकी ख्वारी (अभाव या दुर्बलता) से"! अपने देश में मैत्री का आदर्श किस ऊँचाई को पहुँचा था इसका परिचय प्राप्त करने की इच्छा रखने वालों को विष्णु शर्मा के 'पंच-तंत्र' का 'मित्र-लाभ' अध्याय देखना चाहिए। और रीझने पर सम्राट अशोक का रानी तिष्यरक्षिता को एक माह के लिए, तथा हुमायूं का एक भिश्ती को एक दिन के लिए साम्राज्य-शासन तक का अधिकार दे देना प्रसिद्ध ही है। महाराज छत्रसाल का महाकवि भूषण की पालकी में कहारों के साथ कन्धा लगा देना तो अभी कल की बात है।

और इसी पैमाने पर, वाल्मीकि और व्यास तथा चाणक्य और मैकियावेली से लेकर संसार भर के साहित्य में यही उपदेश मिलता है कि क्षीण से क्षीण अग्नि और शत्रु को भी बिना मिटाए छोड़ देना अपने को भीषण खतरे में डालना है। शत्रु को मारकर, काटकर, जलाकर, उसकी राख हवा में उड़ा देने, और पानी में बहा देने के उन ग्रन्थों के स्वर किस पाठक के कानों में न गूंजे होंगे? राज्य विस्तार

की दुर्दमनीय पिपासा रखने वाले दारा, सिकन्दर, हैनिबाल, सीजर (जूलियस), अशोक, शार्लमैन, तैमूर, चंगेज, नादिर, नेपोलियन आदि के क्रोध की जिस बिजली और आग में न जाने कितने लाखों प्राणियों को जल कर खाक होना पड़ा था उसकी थरथरी और झलझलाहट इतिहास के पन्नों में अब तक कायम है। तुलसीदास जैसे नीतिवान एवं सहनशील महापुरुष भी ठन जाने पर कपट और चतुराई करना पुण्य, और शत्रु पर कृपा करना परम कायरता बतलाते थे। और व्यक्तिगत वैर या रोष के कारण आदमी को जिन्दा दीवाल में चुनवा देने तथा आग में जलवा देने से लेकर, शत्रु के सर्वप्रिय प्राणी के कलेजे ही को पकवाकर उसे खिला देने के बाद उसे उस दारुण घटना की सूचना देने जैसे जघन्य और आसुरी बर्ताव तक का उल्लेख (बोकाच्चो के 'दी केमरों' में) मिलता है। थीबिस के राजा क्रिओं के अपने भानजे पौलिनाइसेस एवं भानजी ऐंटीगोन के प्रति रोष के बरताव की रोंगटे खड़ा कर देने वाली कहानी अपनी करुणा और व्यथा में आज तक अप्रतिम बनी ही हुई है। और ईमानपरस्ती के लिए काफी सरनाम खलीफा हारूँ रशीद के शासन में कोप-भाजन बन गए किसी बेचारे 'परवेज' की दारुण यातनाओं का रोमांचकारी विवरण तो टौमस मेलरी के प्रसिद्ध नाटक 'हसन'... में मैंने भी पढ़ा है।

फिर भी यह मानना पड़ेगा कि जीवन में भी, और साहित्य में भी कभी-कभी ऐसे महान पुरुषों का साक्षात्कार हो जाता है जो 'विपतिधैर्य मथाभ्युदयेक्षमा' की मूर्ति तो होते ही हैं, शत्रुता के अपने आचरणों एवं रोष के उद्दाम क्षणों के अपने संयम में उस अनिर्वचनीय लालित्य का दर्शन कराते हैं जिससे ही मानव-जीवन में रसों के नए लावण्य का संचरण होता है। सिकन्दर के शत्रु पौरस के साथ, और पृथ्वीराज ने अपने शत्रु मुहम्मद गौरी के साथ जो औदार्यपूर्ण व्यवहार किए वह प्राचीन होने पर भी अपनी विरलता के कारण मानव-सदाचार के इतिहास में चिरनवीन बने ही हुए हैं। साहित्य में मैंने प्रथम बार ऐंटन चेखव की लिखी 'दी एनिमीज'. नामक कहानी जिस दिन पढ़ी थी मुझे उस दिन रूस की मानवता और चेखव की महामानवता के साथ ही संसार की सभ्यता के लिए शत्रुता के नए आदर्श की स्पष्ट झाँकी प्राप्त हुई थी। सच है, कभी जीवन की हरी-भरी, और कभी झुलसी-झुलसी उपत्यकाओं में होते हुए, कभी अशेष मरुस्थल और कभी-कँटीले बेहड़ पठारों को पार कर समतल भूमि पर यात्रा कर रहे, जीवन-धारा की नाना-विधि गतियों को सुगति प्रदान करने वाले नरकेसरियों में, रुचि और

संतुलन एक ऐसी स्थिरता एवं परिपक्वता प्राप्त करते हैं, जिसके प्रभाव से उनके ओजस्विता के क्षणों में एक ऐसा लावण्य उभर आता है जो हर देश और हर काल में मानवता के भाल को सौभाग्य और सद्भावना के अशेष शृंगार से अनुरंजित करता रहता है। यही कारण है कि रोष का लावण्य जवानों में उतना नहीं फबता जितना बूढ़े बुजुर्गों में। आश्चर्य है कि जब शृंगार और लावण्य के सभी उपादान बूढ़ों की अपेक्षा जवानों पर ही अधिक फबते हैं, फबने चाहिएँ भी, प्रकृति का ऊपर कहा हुआ अनिर्वचनीय लावण्य तारुण्य से करोड़ गुना अधिक वार्धक्य में ही पानीदार दिखाई पड़ता है।

एक दो उदाहरण लीजिए न ?

बात बहुत पुरानी नहीं ; पर बहुत नई भी नहीं है। जीवन की हरी-भरी और झुलसी-झुलसी उपत्यकाओं तथा बेहड़ रेगिस्तान और पठार आदि पार करके समतल भूमि में यात्रा करने वाले जिस कोटि के बुजुर्गों की ओजस्विता के अलौकिक लावण्य का अभी उल्लेख हुआ है उसी कोटि के दो परिपक्व व्यक्तियों या बुजुर्गों की कहानी है। दोनों एक ही 'तप्पे' (परगने) के खानदानी भूमिधर थे। एक महीपाल सिंह, और दूसरे पिरथीपालसिंह। दोनों की एक-दूसरे से जीवन भर की नाचाकी रही, अतः एक दूसरे को क्या कहते थे यह तो पता नहीं, पर दोनों ही से कुढ़े हुए लोग इन्हें 'नागपाल' और 'साँपपाल' ही कहते थे। ऊँचा कुल, सम्पन्न घर, सुन्दर स्वस्थ शरीर, दूध-पूत, बाग-बगीचा, अहाली-महाली, दीर्घ वय, देस-कोस में सुनाम, राज-दरबार में सम्मान और एक खासी बड़ी जमींदारी, यानी प्रायः सभी चीजें उन्हें विरासत में एक-दूसरे के बराबर की मिली हुई थीं ! और कहें तो कह सकते हैं कि आपसी शत्रुता भी उन्हें अन्य सभी चीजों के समान विरासत में ही मिली हुई थी। शायद यही कारण था कि जैसे विरासत में मिली सभी चीजों की उन्होंने जीवन पर्यन्त सुरक्षा की, उपयोग किया और उनकी कदर की, वैसे ही उन्होंने विरासत में मिले पारस्परिक द्वेष और शत्रुता को भी शान से निबाहा, उसकी सुरक्षा की और जीवन पर्यन्त उसे संजोया कि वह एक उल्लेखनीय घटना ही बन गई।

उनकी जमींदारी अनेक स्थलों पर इस तरह मिली हुई थी कि प्रत्येक बरसात के बाद सीमा-सम्बन्धी कोई न कोई विवाद खड़ा होता ही रहता। पहले के मामले-मुकदमे खतम हो न पाते तब तक नए छिड़ जाते, इस कारण दीवानी, फौजदारी, माल और कमिश्नरी या 'बोरड' आदि के अनेक मामले दो जिलों में चलते ही

रहते थे क्योंकि इन दोनों ही की जमींदारियां पास-पास के दो जिलों में लगती थीं।

दोनों ही दरबारों में मुंशी-मौलवी, अहलमद, तहवीलदार, कारिन्दे, मुख्तार आदि थे। दोनों ही बखरियों में शाम को दरबार लगते। मनोरंजन की खूब शोख और रंगीन बातों के बेल-बूटे निकालने वाले जबान के उस्ताद और वचन चातुरी के कलाकार अपने-अपने जौहर दिखलाते। दोनों ही जगह अक्सर रुपये में बारह या चौदह आने बातें भले ही दीगर रहतीं, बाकी चार या दो आने इस दरबार में उस दरबार की और उस दरबार में इस दरबार की किसी-न-किसी बात की एक अजब अदा के साथ टीका-टिप्पणी होती थी। कभी पुरानी बातों का सिलसिला एकदम ताजी बात से जोड़कर बड़ी दूर की कौड़ियां लाई जातीं, कभी कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा बटोर कर बात की करामात दिखाने वाले बड़ा नायाब 'भानमती का कुनबा' जोड़ लेते; और कभी कोई बहुत ही हलकी और मामूली-सी बात को भी, उखाड़-पछाड़ करने में काफी सिद्धहस्त बैठकबाज काफी अच्छा मनोरंजन का जामा पहिना देते थे। दोनों ही दरबारों में 'ठाकुर साहेब' का प्रयोग अपने 'सरकार' के विपक्षी ठाकुर साहेब के लिए होता था। ऐसे तो दरबारी, मुसाहिब और सभी हँसोड़ों और मसखरों को खुल खेलने की और ठकुर सोहाती करने की पूरी आजादी थी क्योंकि दोनों ही ठाकुर कहते कम सुनते ज्यादा थे। पर लोगों का कहना है कि जब कभी शिष्टाचार और स्वच्छ मानसिकता के स्तर से नीची कोई बात किसी ने कही उस समय जिस ढंग से अपने लावण्यमय रोष उन्होंने प्रकट किए, वह एक कहानी बन गई जिसे उनकी याद आते ही पिछले खेवे के उस दयार के बूढ़े-सयाने आंखों में आंसू भर कर हमें सुनाया करते थे।

एक बार जब ठाकुर महीपाल सिंह साहब ने नए जमाने की लहर-बहर से प्रभावित हो खास गान्धी आश्रम का सिल्क और खद्दर मंगवा कर दे दिया और नब्बन मियां की दुकान पर रेशमी खद्दर की अचकन और टोपी और खद्दर के चूड़ीदार पाजामे सिले जाने लगे तो शाम को पिरथीपाल साहब के यहां इस पर टीका-टिप्पणी हुई। उसी दिन एक घटना और घट गई थी। ठाकुर महीपाल जी के छोटे कुंवर साहिब की ग्रेजुएट पत्नी को पहली सन्तान को पिलाने के लिए दूध न होने के कारण वह बच्चा जाता रहा था। और अब यह जानकर कि छोटी बहू को 'आगम' था, ठाकुर साहेब ने ऊंची नस्ल की एक कीमती बकरी के मथुरा में खरीदने का प्रबन्ध कर रखा था। ग्याभिन बकरी उसी दिन दोपहर

में बखरी पहुँची थी, और कुछ संयोग ऐसा हुआ कि उसी दिन शाम को उसने बच्चा जना। अक्सर बकरियां दो और कभी कोई तीन बच्चे दिया करती हैं। ऊंची नस्ल की कोई-कोई बकरी केवल एक ही बच्चा देती है। इस बकरी ने भी एक ही बच्चा दिया था। उस रात ठाकुर पिरथीपाल साहेब की कचहरी (बैठके) में खद्दर-चर्चा और गान्धीवाद के साथ-साथ बकरी का भी सम्बन्ध जोड़ा गया। एक दरबारी ने कहा: 'ठाकुर साहब गान्धी महात्मा के रास्ते जा रहे हैं।' दूसरे ने कहा: 'वे सच्चे भक्त बन रहे हैं, तन से भी और मन से भी। तन से भक्ति करने के लिए खद्दर पहनेंगे, मन से भक्ति करने के लिए बकरी का दूध पीएंगे।' इसी मौके पर एक मसखरे ने बकरी के बच्चे होने की बात कही। दूसरे ने उसकी बात का खण्डन किया कि बकरी ने एक नहीं दो बच्चे जने हैं। प्रश्न हुआ कि फिर दूसरा कहां गया ? उसने जवाब दिया कि ठाकुर साहब ने उसे तहखाने में छिपा दिया है। सब की उत्सुकता हुई यह जानने के लिए कि तहखाने में उसे क्यों छिपा दिया है ? वह मसखरा भी एक ही काइंया था बोला: 'भीड़ लग जाएगी भीड़, टिकट लगाना पड़ेगा, उसके तीन ही टांगें जो हैं।' हंसते-हंसते लोगों का पेट फूल गया। ठाकुर पिरथीपाल सिंह ने तब पूछा: 'आखिर उसको क्या करेंगे ठाकुर साहब ?' मसखरे ने कहा: 'उनके साले बाबू साहब पंचपेड़वा तो उसे अपने साथ ले जाना चाहते थे, क्योंकि वे एक सरकस खोलने वाले हैं। परन्तु ठाकुर साहेब ने इनकार कर दिया। वे स्वराज्य हो जाने पर उसे लखनऊ के अजायबघर को भेंट करेंगे।' खूब कहकहे लगे। उस दिन का सेहरा इसी मुसाहिब को प्राप्त हुआ।

इसी तरह पिरथीपाल सिंह साहेब की हजामत महीपाल साहेब के दरबार में उस रात हुई थी जिस दिन असेम्बली के चुनाव में पिरथीपाल साहेब की जमानत जब्त हो गई थी। महीपाल सिंह को कांग्रेस का टिकट नहीं मिला था। वे चुनाव लड़ने की सोच ही रहे थे तब तक पिरथीपाल साहेब के पोस्टर गांव-गांव पेड़ों पर चिपकने लगे। महीपाल साहेब ने कांग्रेस का साथ दिया। पिरथीपाल साहेब की जमानत जब्त हुई। रात में महीपाल सिंह के दरबार में हारने के कारणों की टीका-टिप्पणी हुई। किसी ने यह कारण बताया, किसी ने वह, परन्तु एक मसखरे ने गजब कर दिया। उसने कहा कि: 'ठाकुर साहेब जब परदादा साहेब को वाजिद अली शाह के यहां से मिली हुई जामेवार की शेरवानी पहन कर कनवासिंग के लिए निकले तो जिस किसान के दरवाजे पर गए उसी के बैल बिदकने लगे। कहीं नाथ टूटी, कहीं नांद, और कहीं पगहा और कहीं खूंटा।

किसानों ने कहा: 'जब उम्मीदवारी में यह हाल है कि नांद-चरनी और खूंटा-पगहा का सत्यानाश हो रहा है तो जब चुने जाएंगे तब न जाने क्या करें?' बात फैल गई कि ठाकुर साहेब से बैलवा नाराज हैं, और किसानों ने वोट नहीं दिए। जमानत जब्त हो गई।' लोगों ने एक स्वर से स्वीकार किया कि ठाकुर पिरथीपाल सिंह की जमानत जब्त हो जाने का असल कारण यह था। उस दिन की विजय का सेहरा उसी दरबारी के माथे बंधा।

और इन्हीं दोनों नर-रत्नों के सम्बन्ध में वह बात मशहूर है जिसकी याद आने पर दम भर के लिए विचार रुक जाते हैं, आस्था दृढ़ होती है, और इनकी स्मृति के समक्ष मन श्रद्धा से झुक जाता है।

कहते हैं कि एक बार ठाकुर महीपाल सिंह के किसी दरबारी ने ठाकुर पिरथीपाल सिंह जी के चरित्र के सम्बन्ध में कुछ संदिग्ध संकेत किया। ठाकुर साहेब ने अपने उस मुसाहिब की बात पर कुछ अचरज प्रकट किया। बोले: 'ऐसा क्या होगा!' दरबारी बोला: 'सरकार! ऐसा ही है।' महीपाल सिंह बोले: 'ऐसा नहीं हो सकता।' दरबारी जरा मुंह लग गया था। उसकी शामत आ गई थी, बोला: 'जो मैं कहता हूँ वही ठीक है!'

महीपाल सिंह जी की भवें तन गईं, चेहरे की अमिट मन्द मुसकान न जाने कहाँ गायब हो गई। क्षण भर के लिए सिर ऊपर उठा, और सकल समाज ने देखा उस रोष भरे मुखमंडल को, और सुना उस रोष भरे मुख के लावण्य को! उनके मुख से ये शब्द ज्वाला के समान निकल पड़े: 'दुत बुड़बक! ऊ हमार दुसमन हवैं कि तोर रे? अपने दुसमन कै हम ढेर जानब कि तें जनबे?'

अर्थात् 'धत रे मूर्ख! वे हमारे दुश्मन हैं कि तेरे? अपने दुश्मन को मैं अधिक जानूंगा कि तू?'

सच है महीपाल सिंह सच है। आपका व्यक्तित्व धन्य है जिसमें शत्रु के प्रति भी यह अलौकिक अपनपौ अन्तर्हित है; और आपका यह अपनपौ धन्य है जिसके क्रोड़ में शत्रु के लिए भी इतना विशेष स्थान सुरक्षित है। मानो शत्रु का न होना जीवन का एक बड़ा अभाव है, और उस अभाव की पूर्ति करने वाला मानो अपने व्यक्तित्व को पूर्णता प्रदान करने वाला होने के नाते अन्यों की अपेक्षा अपना अधिक निकटस्थ है। अतः मेरे शत्रु का अपमान मेरे सामने करने का अधिकार किसी अन्य को नहीं! कहते हैं कि सारे समाज ने महीपाल सिंह की

उसी क्षण जै-जैकार की और दूसरे ही दिन यह बात कहानी बनकर उस दयार के बच्चे-बच्चे की जबान पर पहुँच गई। वह मुसाहिब पीला पड़ गया। एक महीने तक अपने घर से बाहर नहीं निकला। लाज और ग्लानि के मारे सूख कर काँटा हो गया। तब ठाकुर महीपाल सिंह जी ने अपने बड़े कुंवर जी को उसके घर भेज कर उसे बुलवाया। तब उस बेचारे की जान में जान आई।

और अन्त में एक दिन ऐसा भी आया। प्रातःकाल ठाकुर पिरथीपाल सिंह अपनी चौपाल के सामने मंचिया पर बैठे दाँतून कर रहे थे। उनके पुजारी बाबा ठाकुर महीपाल जी के गाँव के पास रहते और प्रतिदिन प्रातःकाल पिरथीपाल सिंह जी के शंकर के मंदिर में पूजा करने आते थे। नियमानुसार प्रथम मन्दिर में जा पूजा करके तब आशीर्वाद देने के बजाय उस दिन ठाकुर साहेब को देखते ही उनका जयजयकार करने लगे। ठाकुर साहेब को कुछ अजब-सा लगा। उन्होंने पूछा कि आज नई बात क्या है? 'बात ही ऐसी है सरकार!' पंडित जी ने कहा। 'आपका यश बढ़े! मित्रों की उन्नति हो रही है, और शत्रुओं का अन्त हो रहा है। गई रात मझले ठाकुर साहब स्वर्गवास कर गए हैं।'

'के महीपाल सिंह!!'

'हाँ, सरकार!'

हाथ से दातून छूट कर गिर गई। बड़ी देर तक पिरथीपाल सिंह जी की जबान से एक-शब्द न निकला। अभी दस ही दिन पहले ठाकुर पिरथीपाल सिंह महीपाल सिंह के मुकाबले में एक बड़ा मुकदमा हारे थे। उस दिन वे बहुत बकझक कर रहे थे। यहाँ तक कह गए थे कि जब तक महीपाल जिन्दा रहेगा चैन न लेने देगा। पर आज महीपाल के चले जाने पर यह कैसा? ब्राह्मण देबता को शीघ्र ही मालूम हो गया कि ठाकुर पिरथीपाल सिंह जी के हृदय-समुद्र की थाह लगाने में उनसे चूक हो गई है। पिरथीपाल सिंह का कहना था कि, 'महाराज! आपका चरण पूजता हूँ, कड़ी बात नहीं कह सकता। परन्तु आपने यह सबेरे-सबेरे बहुत दुखदायी खबर दी है। अब दो-दो जिलों की कचहरियों, और बस्ती और गोंडा के कलेक्टरों के बंगलों की खाक मुझे कौन छनवाएगा? गोरखपुर और लखनऊ के कमिश्नरों की डाली के लिए बनारसी लंगड़ा, नागपुरी सन्तरा, बम्बई का हापुस, मइहर के गन्नों की खोज में मुझे कौन रमाएगा? महाराज! अब पिरथीपाल के करने के लिए रह ही क्या गया? महीपाल गए तो पिरथीपाल कब तक रहेंगे?' इत्यादि इत्यादि...

ठाकुर पिरथीपाल सिंह ने उस दिन दातून नहीं की, स्नान नहीं किया, भोजन नहीं हुआ। उस रात कचहरी नहीं भरी! वे महीपाल के घर तो नहीं गए, पर दसवां के दिन अपने ही द्वारे क्षौर कर्म कराया। तेरहीं के दिन पच्चीस ब्राह्मण भी जिमाए। अपने शत्रु के नाम पर। और आप मानें या न मानें, मुझे हरैया (बस्ती जिले की एक तहसील) निवासी एक महानुभाव ने बतलाया था कि महीपाल सिंह को मरे पूरे छः महीने नहीं हुए थे कि ठाकुर पिरथीपाल सिंह भी स्वर्गवासी हो गए।

तीसरा और चौथा उदाहरण अधिक आधुनिक, अतः अधिक निकटस्थ और बहुत ही प्रत्यक्ष है। एक धर्मात्मा ब्राह्मण, और एक 'भूप' के जीवन से सम्बद्ध है।

समय १९३० ई०, गान्धी सप्ताह (अक्तूबर का महीना)। स्थान इलाहाबाद।

देश की आजादी का जंग 'नमक-सत्याग्रह' के नाम से छिड़ा हुआ था। मैं भी प्रयाग-विश्वविद्यालय में बी० ए० प्रथम वर्ष का छात्र था। विश्वविद्यालय दो-ढाई महीने बन्द रहने के बाद खुल चुका था। सभी बड़े-बड़े नेता जेल के सीखचों के भीतर बन्द थे। गान्धीजी, मोतीलालजी, जवाहरलाल जी, स्वरूपरानी जी, विजया-लक्ष्मीजी यहाँ तक कि कमलाजी भी। नेहरू-परिवार का शायद एक ही प्राणी कृष्णाजी बाहर थीं। अक्तूबर आ गया था। 'गान्धी-वीक' मनाया जा रहा था। जौनसन (या जानसेन) गंज में गान्धी आश्रम से जुलूस रवाना होता था। प्रथम दिन के कार्यक्रम में आश्रम के सामने ही पुलिस ने जूलूस को रोककर लाठी चार्ज किया था। उस दिन का नेतृत्व उमा जी कर रही थीं। लाठी चार्ज में कितने ही घायल हुए थे। दो व्यक्ति मरे थे। जीवन और मरण का फासला उस सन्ध्या को मैंने भी देख लिया था। पटरी और सड़क पर बैठने के लिए विवश हमारी भीड़ में मेरे पीछे एक तरुण उचक कर पहले मेरे बगल में आ बैठा। फिर वहीं से बार-बार खड़ा होता और फिर बैठता हुआ, अन्त में वह एकदम सामने जा बैठा। फिर भीड़ को तितर-बित्तर करने के लिए जब लाठीचार्ज हुआ तब सबसे अधिक चोट खाकर मरण शय्या पर जाने वालों में वह सर्वप्रथम हो गया।

दूसरे दिन का जलूस विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों ने बहुत बड़ी संख्या में भाग लेकर एकदम विशाल बना दिया। हमारी यूनियन के प्रेसिडेंट भाई काशीराम तिवारी (अब मध्य प्रदेश-विधान सभा के कांग्रेसी सदस्य) तथा जगत 'मामा'

(बावन-अंगुल के कद वाले) हमारा नेतृत्व कर रहे थे। यों कांग्रेस-कमेटी की ओर से समस्त कार्यक्रम का उस दिन का नेतृत्व शायद कृष्णा जी के हाथ में था। जलूस गान्धी-आश्रम से रवाना होकर पुरुषोत्तमदास टंडन पार्क के बाएं से होता कैनिंग रोड पर (जो आज 'महात्मा गान्धी मार्ग' कहलाता है) पहुंचकर आगे बढ़ा ही था कि सामने से गोरी पुलिस ने आकर हमें रोक दिया। कार्तिक की ठंडी रात में हम वहीं जमीन पर बैठ गए और रह-रहकर नारे लगाते रहे। धीरे-धीरे रात के साढ़े-आठ बज गए। तब एक-एक क्षण एक-एक घन्टे के बराबर गूढ़ बीतने लगा। और तभी एक मोटर टोमियों की पांत के पीछे से हर हराती हुई आ रही थी। उसी ओर मुड़कर 'टोमियों' ने किरिच-खुंसी हुई बन्दूक सड़क के दोनों बाजुओं से आमने-सामने भिड़ाकर उस मोटर को रोक लेना चाहा। तब तक मोटर में बैठे हुए व्यक्ति ने ड्राइवर को आवाज दी : 'चला दे मोटर' ! और मोटर किरिचों को चीरती हुई भर्र से वहां आ रुकी जहां उस समय के इलाहाबाद के कलेक्टर छः फुटे श्री एच० बामफोर्ड (जो बाद में कुछ दिनों के लिए मध्य प्रदेश के गवर्नर भी हुए थे) तथा उस समय के प्रयाग के पुलिस-कप्तान श्री मेजर्स और आज के उत्तर प्रदेश के आई० जी० श्री महेश शंकर माथुर, आई० पी० एस० आदि खड़े थे। हमने जोर से नारा लगाया : इनकिलाब जिन्दाबाद ! पंडित मोतीलाल नेहरू जिन्दाबाद ! ! और तभी हमने सुनी मोटर के अन्दर से त्यागमूर्ति पंडित जी की रोष से भरी हुई आवाज ! वे बीमारी के कारण उसी शाम नैनी जेल से रिहा होकर करीब ८ बजे रात आनन्द-भवन पहुँचे थे, और वहाँ पहुंचते ही यह सुनकर कि नगर के लड़कों-लड़कियों के जुलूस को गोरी पुलिस ने सिविल लाइन्स में रोक रखा है, तुरन्त घटनास्थल पर आ पहुँचे थे। पंडित जी कह रहे थे : 'मिस्टर बामफोर्ड ! बच्चों से लड़ने में आपको शर्म नहीं आ रही है? लड़ने का शौक है तो आइए, मुझसे लड़िए। या हिम्मत हो तो जवाहरलाल का जुरमाना वसूल करने कल आनन्द भवन तशरीफ लाइए।' फिर पंडित जी बगल में बैठे पंडित सुन्दरलाल से बोले : 'पंडित सुन्दर लाल जी ! आप मिस्टर बामफोर्ड और मिस्टर मेजर्स से जाकर कह दीजिए। उनकी और सब हरकतें माफ की जा सकती हैं लेकिन इस तरह हमारे बच्चों को सताना हरगिज माफ नहीं किया जा सकता।'

और मोटर मुड़ी, और मोटर चली गई, और उस रोष का लावण्य सब के चेहरे पर छा रहा था। और वे पंडित जी चले गए, और स्वराज्य हो गया, और सभी मिस्टर बाम फोर्ड और सभी मिस्टर मेजर्स भी चले गए, जैसे उस दिन पंडित

जी की मोटर के जाने के बीस सेकेंड के भीतर ही वे सब के सब हवा हो गए थे। परन्तु पंडित जी के रोष का उस दिन का लावण्य हमारे दिलों में आज भी झिलमिला रहा है, और इस दास्तान को पढ़ने वाली हजार-हजार आँखों और दिलों में भी अब वह झिलमिलाया करेगा। और हमने तभी फिर जोरों से नारा लगाया था : इनकलाब, जिन्दाबाद ! महात्मा गांधी, जिन्दाबाद ! ! पंडित मोतीलाल नेहरू जिन्दाबाद ! ! ! और कानपुर रोड होते हम लोग भी अपने-अपने होस्टलों को लौट पड़े थे।

और अन्तिम उदाहरण जिन 'भूप' जी के जीवन जो एक बहुत ही महीन और बारीकी भरी व्यंजना वाली घटना से सम्बन्धित है। वे 'भूप' कोई और नहीं हमारे रायबहादुर लाला सीताराम 'अवध वासी भूप' ही थे। सन् १९३४ में मैं जब एम० ए० के अन्तिम वर्ष का प्रयाग विश्वविद्यालय में विद्यार्थी था तभी हमारे गुरुजी (पंडित देवी प्रसाद जी शुक्ल 'भगवन') ने मुझे आदेश किया था कि मैं सप्ताह में कम से कम दो बार श्रद्धेय लाला जी के घर मुट्ठीगंज जाकर उनके पास बैठूं और उनके संस्मरण संचित कर लूं ? इसी सिलसिले में कई बार लाला जी के यहाँ मेरा आना-जाना हुआ था। एक बात मुझे नहीं भूलती। प्रायः जब-जब मैं उनके यहाँ गया वे उस मसहरी (बड़े पलंग) का परिचय प्रत्येक बार देते थे जो उनके कमरे में एक कोने में धरी थी। उनका कहना था कि यह बात तो कुछ लोग जानते हैं कि हिन्दी का एम० ए० सर्व प्रथम कलकत्ता विश्वविद्यालय में आरम्भ हुआ था, पर यह बात बहुत ही कम लोग जानते हैं कि एम० ए० का हिन्दी का कोर्स बनवाने के लिये सर आशुतोष मुकर्जी, जो उस समय कलकत्ता विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर थे, लाला जी के पास प्रयाग आए थे और तब तक उनके ही यहाँ ठहरे रहे जब तक उन्होंने 'हिन्दी-सेलेक्शन्स' नाम की चार जिल्दों में छपी पुस्तक की पांडुलिपि सर आशुतोष के हवाले नहीं कर दी थी। लाला जी उस मसहरी की तरफ संकेत करके बड़े गर्व और सन्तोष के साथ कहते कि सर आशुतोष उसी पर शयन करते थे।

लाला जी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, प्रताप नारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, बद्री नारायण चौधरी, 'प्रेमघन', महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि से सम्बन्धित कितनी ही बड़ी मनोरंजक बातें सुनाया करते थे। रामचन्द्र शुक्ल का नाम आने पर दो-चार सराहनात्मक बातें कह देते थे । अपनी घनी-घनी सफेद मूछों, और गम्भीर और गूढ़ विनोदी-वृत्ति तथा बातचीत के समय अपनी

महीन सूझ-बूझ के साथ-साथ, कद और शरीर की गठन में भी लाला जी बहुत कुछ आचार्य शुक्ल जी जैसे दीखते थे, या यों भी कहिए कि शुक्ल जी लाला जी की ही तरह दीख पड़ते थे । पर एक दिन की बात है, मेरे मुंह से बाबू श्याम सुन्दर दास जी का नाम निकलते ही वे एकदम तमतमा उठे । बोले—'आपने भी किस आदमी का नाम लिया । यह आदमी मामूली हजरत नहीं है । इसने मुझे बड़ा दुख दिया है !' इतना कहकर लाला जी चुप हो गए । शायद वे मेरी प्रतिक्रिया जानना चाहते थे । मैंने मन में सोचा आज न जाने क्या अनर्थ होने वाला है। मुझे मौन देख के फिर बोलने लगे—'मैं चाहता हूँ कि आप सारी बातें सुन लें, और इसका प्रतिकार करें । मैं बूढ़ा हो चला हूँ, बदला लेने में असमर्थ हूँ । और यों भी दो रायबहादुरों की लड़ाई ठीक नहीं है ।' फिर लाला जी ने बिस्तार के साथ बतलाया कि तुलसीदास का वास्तविक चित्र (जटा-जूट और दाढ़ी युक्त) उन्हें किस प्रकार प्राप्त हुआ था, और किस प्रकार यह खबर बाबू श्याम सुन्दर जी के पास पहुँची और वे प्रयाग लाला जी के पास आकर वह चित्र नागरी-प्रचारिणी सभा के लिए उनसे दान में माँगने लगे । न देने पर यह वचन देकर वह चित्र उधार ले गये थे कि वहाँ किसी चित्रकार से उसकी एक नकल तैयार करा के सभा-भवन में टंगवा देंगे और असल चित्र लाला जी के पास वापस कर देंगे ।

अपनी कथा में इस स्थल पर पहुँच कर लाला जी चुप हुए तो मैंने समझा कि अब वे कहेंगे कि चित्र बाबू साहेब ने आज तक वापस नहीं किया । मैं मन ही मन यह स्वीकार करने लगा था कि सचमुच लाला जी की शिकायत बजा है, और दुखी भी हो रहा था कि बाबू साहेब जैसे महान व्यक्ति आखिर ऐसा काम क्यों कर बैठे ? मुझसे अधिक देर तक चुप न रहा गया । मैंने पूछ ही तो दिया कि बाबू साहेब ने चित्र लौटाया या नहीं ? लाला जी ने बे अटक कहा—'लौटाया क्यों नहीं । वह तो दो महीने में दो-चार दिन कम ही थे तब तक एक आदमी आकर चित्र दे गया ।' मैंने समझा कि अब ये कहेंगे कि असल उन्होंने रख लिया और नकल उन्हें भेज दिया । पूछने पर पता लगा कि यह बात भी नहीं थी । बाबू साहेब ने लाला जी को उनका असल चित्र ही वापस भेजा था ।

बात यह हुई थी कि बाबू साहेब ने लाला जी वाले तुलसीदास की जब नकल कराई तो बाबा जी की असल चित्रवाली जटा और दाढ़ी-मूँछें नकली चित्र से निकलवा दीं और इस प्रकार, आज भी नागरी-प्रचारिणी सभा-भवन में

तुलसीदास जी का 'प्रामाणिक चित्र' टंगा हुआ है उसका निर्माण हुआ। यह बात लाला जी को साल भर बाद मालूम हुई थी, और जब से यह बात उन्हें मालूम हुई थी वे यह कह कर बाबू श्याम सुन्दर दास को कोसते थे कि उन्होंने इनके बाबा जी को मूँड़ लिया था। पर लाला जी से मैंने जब यह कहा कि बाबू साहेब का ऐसा करना क्षम्य माना जा सकता है तब वे और अधिक लाल-पीले हो गये। बोले—'आपने तो बिल्कुल ही नहीं समझा। अगर उन्होंने मुझ से लिया हुआ चित्र ही वहाँ टांग दिया होता तो भी मैं उन्हें बेईमान, बात छोड़ने वाला आदि कहकर सन्तोष कर लेता। उस भले आदमी ने तो वह अनर्थ किया है जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती थी।' मैं हैरान था कि आखिर वे कहना क्या चाहते थे? वे बोले—'मुझे जो दुख है वह इस बात का कि सारा हिन्दू समाज तो अपना मुंडन प्रयागराज में कराता है, किन्तु श्यामसुन्दर दास ने इतने आस्तिक हमारे बाबा जी को प्रयागराज से ले जाकर काशी में उनका मुंडन कर डाला। इस पाप से उनको जन्मजन्मान्तर में भी छुटकारा नहीं मिल सकता।'

सत्य ही मैं लाला जी के रोष के लावण्य से उस क्षण अभिभूत हो गया। लाला जी का आदेश हुआ कि मैं बाबू साहेब के लाला जी के प्रति इस अन्याय की बारंबार लोगों में चर्चा करूं और इसे लेखबद्ध करके बाबू साहेब का भंडाफोड़ करूं।

लाला जी की मृत्यु दिसम्बर १९३६ या जनवरी १९३७ में हुई थी, और तभी मैंने उनका एक संस्मरण लिखा था जो फरवरी या मार्च १९३७ की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। जहां तक मुझे स्मरण है उक्त लेख में इस बात का उल्लेख नहीं हो पाया था। किन्तु मुझे इस बात का सन्तोष है कि आज मैं पूर्णतः लाला जी के आदेश का पालन कर सका हूं। जबानी तो यह प्रसंग मैं अनेक लोगों को सुना चुका था, आज लेख-बद्ध भी कर सका हूं।

५ : आदिम संस्कार

० ० ०

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने एक निबन्ध में कहा है कि भावों के मूल और आदिम रूप ही हमारे हृदय को सबसे अधिक स्पर्श करते हैं। आचार्यजी ही के शब्दों में उन रूपों के प्रति हमारे अनुराग का अत्यधिक कारण अपना खास सुख-भोग नहीं, बल्कि, चिर-साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है। मनुष्य जाति जिस समय प्रकृति के खुले क्षेत्र में विचरण करती थी, उस समय के उसके पुराने सहचरों (मनुष्येतर बाह्य प्रकृति) के प्रति उसकी प्रीति को, जिसकी स्मृति आज हमारी वंश-परंपरागत वासना बनी हुई है, दूसरे शब्दों में हम 'आदिम संस्कार' कहते हैं।

वन्य और ग्रामीण दोनों प्रकार के जीवन प्राचीन हैं, दोनों पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों, नदी- नालों और पर्वत-मैदानों के बीच व्यतीत होते हैं, अतः, प्रकृति के अधिक रूपों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। हम पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों से सम्बन्ध

तोड़कर बड़े-बड़े नगरों में आ बसे, पर, उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हें हरवक्त पास न रखकर एक घेरे (बाड़े, पिंजड़े या कठघरे) में रखते हैं, और कभी-कभी मन बहलाने के लिए उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों के नीचे सुख से सोते हैं, गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्याऊँ-म्याऊं करके मांगती हैं या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं, और वासुदेव जी कभी-कभी दीवार फोड़कर निकल पड़ते हैं। बरसात के दिनों में जब शुर्खी-चूने की कड़ाई की परवाह न कर हरी-हरी घास पुरानी छत पर निकलने लगती है, तब हमें उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानों हमें ढूंढ़ती हुई आती है और कहती है कि 'तुम हमसे दूर क्यों भागे फिरते हो।'

यहां तक तो बात आचार्य जी की है; अब आदिम संस्कार के दूसरे पक्ष पर विचार किया जाय। मानवेतर प्रकृति के प्रति हमारे इस आदिम संस्कार ने मानवेतर प्राणियों और प्राकृतिक रूपों एवं उनके वस्तु-व्यापारों के प्रति हमारे निश्चित आचरण और चेष्टाओं की एक स्थायी प्रवृत्ति की हमारे जीवन में स्थापना की है। स्वाभाविक ढंग से जीवन-यापन करें, तो हमारे आचरण उस प्रवृत्ति के विरुद्ध नहीं जाते, किन्तु, जब प्रगति या फैशन के नाम पर दूसरों की नकल करने लगते हैं। तब इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के विरुद्ध आचरण करके अपने आदिम संस्कार को दबाते और कभी-कभी उसकी हत्या ही कर डालते हैं। किसी व्यक्ति या जाति के जीवन में उसके आदिम संस्कारों—हर्ष और उल्लास का जीवन में संचार करने वाले स्रोतों—का क्षय, मानों, उस व्यक्ति या जाति की जीवनेच्छा का क्षय, मानों, उस व्यक्ति या जाति की जीवनेच्छा की रगों का शुष्क होना या कट जाना है, और उस व्यक्ति और जाति के अस्तित्व ही का लोप हो जाना है। ईसाई मिशनरियों के इशताल पर अत्यंत पाश्चात्य-गामी बन कर मैलिनीशिया और पौलीनीशिया द्वीपों की कई जातियां बिना किसी अकाल, रोग या महामारी ही के जड़मूल से विनष्ट हो गईं और उनके सर्वनाश के कारणों की जांच के लिए जब कमीशन बैठाया गया, तब उसके एक सदस्य विश्व-विख्यात नृ-शास्त्री (Anthropologist) डाक्टर रिवर्स इस नतीजे पर पहुँचे कि अपनी वंश-परंपरागत रीति-रस्मों को छोड़ देने से जीवनेच्छा का संचार करनेवाली सभी नसें सूख जाने ही से वे विनष्ट हो गई थीं।

जिस प्रकार मानवेतर प्रकृति, हमारे अपने प्रति अनुराग को हमारा आदिम

संस्कार बनाकर, उसके साथ हमारे आचार-विचार की एक निश्चित परंपरा स्थापित कर देती है, उसी प्रकार प्रत्येक भूमि-भाग की प्रकृति अपनी 'रुचि और वृत्ति' के अनुरूप उस भूमि-भाग में निवास करनेवाले प्रत्येक मानव प्राणी में (अन्य प्राणियों में भी) प्रत्येक दूसरे मानव प्राणी के साथ उसके आचरणों की एक बड़ी निश्चित, स्थायी और व्यवस्थित आचार-परंपरा स्थापित करती है, जिसे हम उस जाति का राष्ट्रीय अथवा जातीय चरित्र भी कहते हैं। मेरी मान्यता है कि प्रत्येक भूमि-भाग की एक विशिष्ट अमर अंतरात्मा होती है, और वही होती है उस भूमि-भाग में बसनेवाले मानव प्राणी की असली आत्मा या उसकी मानव-संस्कृति। मानव-जीवन में धरती की यह ऊष्मा (Culture) और उसकी मिट्टी की यह सुगंध (Spirit) जहाँ जैसी होती है, उसी के अनुरूप वहाँ की मिट्टी के निर्मित्त आदमी में (पशु में भी) उसकी कीमत भरती है ! बनारस में दिनभर घूमकर कोई भी सुनले, 'राम कहाऽ माटी कऽ धोंधा !' (हे मिट्टी के पुतले ! राम का नाम ले !) उसे बिना पोथी-पत्रा बाँचे सच्चे काशीवासी तत्वज्ञानियों के मुँह से दस-पांच बार सुनने को मिल ही जायगा। 'मानुस' क्या 'माटी का धोंधा' नहीं है ?

यद्यपि प्रकृति ने इतनी सप्राणता या चेतनता का आरोप करके मैं पुरुष-तत्व की प्रकृति तत्व के सामने कुछ हेठी नहीं बता रहा हूँ, तथापि, इस कारण यदि कोई सज्जन मुझे प्रकृतिवादी (या जड़वादी) अथवा अस्तित्ववादी ही कहना चाहें, तो मैं उन्हें बकवादी कहने के अधिकार समेत उन्हें मुझे ऐसा कहने का अधिकार बिना किसी उज्र व इन्कार के दे दूंगा। अस्तित्ववाद के आदि प्रवर्तकों में से एक—कार्कीगाड—से प्रभावित, संसार के छठे सर्वप्रधान नाटककार इबसन ने, कुछ इसी अर्थ में, अपने एक नाटक में किसी पात्र से (संभवतः रोजमरशोम के मुँह से सेलमा को) यह कहलाया था कि—'अपने मृतकों से जितना संयुक्त हम रहना चाहते हैं, उससे कहीं अधिक वही हमसे संयुक्त रहना चाहते हैं !'[१] कहते हैं सम्राट् अकबर को अपने शासन-काल में एकबार इटावे के एक विकट राजपूत ठाकुर राजा से काम पड़ा था। वह थोड़ा-बहुत कर देकर शाही लगान वसूल करनेवाले अधिकारियों को प्रायः टरका देता। वे लोग जब कड़े पड़ते, तब वह

[१] "It is not we who cling so much to our dead, as our dead cling to us"

"हम अपने मरे हुओं से उतना नहीं चिमटते जितना वे हमसे चिमटते हैं।"

और कड़ा पड़ जाता और तब शाहंशाह के सामने फौज के सिपाही उसे पकड़कर पेश करते थे। सम्राट् के सामने वह बड़ी विनम्रता से बातें करता, माफी माँगता और नियमित रूप से कर चुकाने का वादा करने पर छुटकारा पाता और घर लौट आता था। मगर, वह फिर खिराज नहीं देता था। दो-तीन बार की ऐसी 'धुकुड़-पुकुड़', धर-पकड़, पसोपेशी और पेशापेशी हो चुकने पर जब वह ठाकुर फिर बादशाह के सामने पेश हुआ। तब उस बार अकबर ने उसे दंड देने का इरादा कर लिया। किन्तु, वह भी एक ही काइयाँ था। उस बार उसने ऐसी अपूर्व विनम्रता प्रदर्शित की और ऐसी बातें बनाई कि बादशाह को उस पर विश्वास हो गया और उन्होंने एक बार उसे पुनः छुटकारा दे दिया। बीरबल बादशाह की इस अटूट विश्वासशीलता पर मुस्कराए। शाहंशाह ने उनके मुस्कराने का कारण पूछा। बीरबल ने साफ-साफ कह दिया कि वह अब भी घर पहुँचकर वैसा ही करेगा और खिराज तलब करनेवालों को खिराज तो नहीं, गालियाँ जरूर देगा। बादशाह ने ठाकुर को मक्कार, झूठा और वादाफरोश समझा। बीरबल ने दूसरा ही कारण बताया। बीरबल का कहना था कि अपनी जन्म-भूमि की जिस मिट्टी पर पैर रखकर वह ठाकुर वहाँ गिरदावर, कानूनगो और मजकूरियों के सामने निर्भय होकर खिराज न देने की बात कहता है, उस मिट्टी पर अगर वह यहाँ बादशाह के सामने खड़ा किया जाय, तो यहाँ भी उसी तरह निर्भय होकर बातें करेगा। बादशाह ने इस बात की परीक्षा लेनी चाही और जब फिर उस ठाकुर ने विद्रोह किया, तब पहले उसके गाँव के पास से मिट्टी मँगवाकर आगरे में एक चबूतरा बनवाया गया और फिर उसे पकड़ कर आगरे में लाया गया। कहनेवालों का कहना है कि उस चबूतरे पर खड़ा कराकर जब ठाकुर से बादशाह ने पूछा, तब उसने पहले की तरह विनम्रता तो प्रदर्शित की, किन्तु खिराज देने से साफ इन्कार कर दिया। बादशाह ने बीरबल की कही हुई 'माटी की महिमा' वाली बात सही मान ली, और ठाकुर को माफीनामे की सनद देकर बिदा किया। आप भले ही इसे निराधार मानें, पर, मेरी विनम्र राय में 'माटी की महिमा' की कल्पना कोरी बकवास नहीं, वरन् एक अपरिहास सत्य है। आज हमारी परंपरा के इस मंथन-काल में, जब हमारे साहित्यिक और सामाजिक जीवन में घुस पड़ने के लिए असंख्य विदेशी और विजातीय उद्भावनाएं भयावह रूप से उत्कंठित हैं, यह जानना कि उनमें किन-किन का संग्रह और किन-किन का त्याग हमारे लिए वांछनीय है या वांछनीय नहीं है, हमारे लिए एकदम जरूरी है। विवाहिता नारी की पति एवं अन्य पुरुषों के प्रति, पुरुष की अपने चौगिर्दा वातावरण या समाज या अपने जीवन के प्रति, तथा नर की नारी के प्रति आचरण की कौन सी रूप-रेखा इस

भारतीय 'माटी की महिमा' ने निश्चित की है, आदिम-संस्कार के इस पक्ष के संबंध में विचार करना हमें अभीष्ट है। धार्मिक ग्रंथों में वेद और साहित्यिक ग्रंथों में वाल्मीकि-रामायण हमारे प्राचीनतम् आधार हैं, अतः हमने भी, जहाँ-जहाँ आवश्यक हवाले देने पड़े हैं, वेद और 'रामायण' ही का सहारा लिया है।

(२)

ऋग्वेद में इंद्र, इंद्र की 'गायों', उन गायों को चरानेवाली सरमा और उन्हीं गायों को चुरानेवाले पणि का जो वृत्तान्त है, उसमें सरमा के चरित्र के परस्पर-विरोधी दो पक्ष हैं। लगभग यही कथानक—नारी-चरित्र के इन्हीं दो पक्षों को लेकर—होमर के 'इलियड' और 'औडेस्सी' महावदानों[१] में भी विकसित हुआ है। ऋग्वेद में सरमा एक जगह इंद्र की गायों (यानी जल बरसानेवाले "सत-साम-धौरे" बादलों !) को चरानेवाली 'बरेदिन' और दूसरी जगह वेदानुक्रमणिका में) उन गायों की रखवाली करनेवाली 'कुतिया'[२] कही गई है। यही सरमा होमर के इलियेड की हेलेन यानी सूर्य की किरणों अथवा ज्योति का और पणि इलियेड के राजकुमार पैरिश यानी प्रकाश को चुरा ले जाने वाले दस्यु यानी अन्धकार का प्रतीक बनते हैं। यूनानी भाषा में वैदिक 'सरमा' और 'पणि' शब्द क्रमशः 'हेलेन' और 'पैरिस' ही होते हैं, यह बात भाषा एवं संस्कृत के जगत्-प्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलर न जाने कब के प्रमाणित कर चुके हैं।

कथा है कि जब इंद्र की गायों को पणि, जो बादलों को छिपा लेनेवाले अंधकार, अथवा दूसरे शब्दों में सूर्य की किरणों या ज्योति को आच्छन्न कर लेनेवाले, ग्रहण, अथवा पर्वताकार तूफानों के प्रतीक हैं, चुरा ले जाते हैं, तब सरमा उनकी खोज में निकल पड़ती है। वह बहुत सावधान और सचेष्ट है। गायों को खोजती-खोजती वह पणियों के नगर में जा पहुँचती है। पणि उसे तरह-तरह के प्रलोभनों में फुसलाना चाहते हैं, किन्तु, वह इंद्र के प्रति अपनी निष्टा में पूर्णतया

---

१. मैं Epic की 'महावदान' और classics को महाकाव्य कहना अधिक पसंद करता हूँ।

२. इसी सरमा का अपत्यवाचक शब्द 'सारमेय' कुत्ते का पर्यायवाची है। 'कोलयकः, साटमेयः, कुक्कुरो, मृगदंशकः......' इति अमरकोशः।

अविचल है। वह अविलम्ब लौटकर इंद्र को गायों की सूचना देती है और उनके पीछे-पीछे लगी रहकर उनके द्वारा पणियों के संहार और गायों के उद्धार का कार्य संपन्न कराती है। किन्तु वहीं वेदों ही में उसी सरमा का कुतिया-रूप उसके प्रथम वर्णित रूप से नितांत विपरीत है। गायों की चोरी के बाद उन्हें खोजती-खोजती जब वह पणियों के बाड़े में पहुँचती है, वह उनके प्रलोभनों में फस जाती है। पणियों से कटोराभर गाय का दूध लेकर वह पीती और लौट आती है। इंद्र के पूछने पर झूठ बोलती है और कहती है कि गायों का पता नहीं लगा। इस पर इंद्र उसे कसकर एक लात लगाते हैं और तब वह पांय-पांय करती हुई लांच में लेकर पिया हुआ दूध वमन कर देती है। सरमा के छल और दुराचार का यह अकाट्य प्रमाण बनता है। परवर्ती साहित्य में कहीं-कहीं किसी-किसी नारी की चरित्रहीनता और वंचकता की कहानी का आदि-स्रोत सरमा की यही कथा है। यूनान की रानी हेलेन को उसकी रजामंदी से इलियो के राजकुमार पैरिस का अपने पिता की ट्राय नगरी में ले भागना, और तब यूनानी राजाओं का स्वदेश की गौरवरक्षा के लिए हेलेन को छुड़ाने के लिए ट्राय पर आक्रमण करना और फिर दस वर्षों तक भयंकर युद्ध और युद्ध में मेनिलौस (कहीं-कहीं फिलौक्टीटीज का उल्लेख है)—रूपी इंद्र के बाणों से पैरिस रूपी पणि का और ऐक्किलीस के हाथों पैरिस के बड़े भाई हेक्टर रूपी दूसरे पणि का मारा जाना, और हेलेन को लेकर विजयी राजाओं का यूनान वापस लौटना, होमर के इलियेड का कथानक है। उधर सरमा की अविचल निष्ठा का इथाका की रानी पेनिलौप के रूप में होमर के द्वितीय महावदान 'ऑडेस्सी' में वर्णन है। अपने महापराक्रमी पति ऑडिसियेस से बारह वर्षों की विमुक्ता रानी पेनिलौप, उनके लौटने की किसी अवधि या तिथि का कोई निश्चय न होने पर भी, अपने ही महल में, अशोक वन में वंदिनी सीता की भांति, उन राजाओं के तमाम उत्पीड़नों और प्रलोभनों से निर्लिप्त रहती है, जो उसके पति की अनुपस्थिति में निडर होकर उसके महल में डेरा डालकर टिक गए हैं और उनमें से किसी एक का वरण कर लेने के लिए रानी को प्रति दिन तरह-तरह से मजबूर करते रहते हैं। पेनिलौप उन विवाहोन्मत्तों को अपने पति के धनुष की ओर, जिसे उठाने में उनमें से एक भी सफल नहीं हो पाया है, संकेत करके कहती है कि उसका पति जब लौटकर आयगा, तब उसी धनुष से छोड़े हुए बाणों से वह प्रत्येक का शिरोच्छेदन करके उन्हें क्षणभर में धराशायी कर देगा! सत्य ही एक दिन जायसी के शब्दों में 'गा अंधियार, रैन मसि छूटी। भा भिनुसार किरिन रबि फूटी!'

ग्रौर ग्रौडिसियेस ग्रा पहुँचा, ग्रौर उन समस्त 'शादीबाजों' (suitors) की लाशें उसने जमीन पर तड़पा दीं !

ग्राकाश के इंद्र-धनुष ग्रौर सूर्य की किरणों ही से ग्रादिमानव ने धनुप-बाण की ग्रमोघ ग्रस्त्र के रूप में कल्पना करके उसका निर्माण किया होगा, इसमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं है। वियोग की रात के बारह घंटों को यदि हम बारह वर्ष मान लें, तो ग्रौडिसियेस सूर्य ही के प्रतीक होते हैं। वस्तुतः चाहे ऋग्वेद के इंद्र, सरमा, गायें तथा पणि हों, या यूनानी होमर के (इलियेड के) मेनिलौस, फिलौकटीटीज, ऐक्किलीस ग्रौर हेलेन तथा पैरिस हो या ग्रौडिसियेस, पेनिलौप ग्रौर विवाहोत्कंठित राजे-रजवाड़े हों; ग्रथवा ट्यूटनों (जर्मनों) के 'वौलसंगा-सागा' वाले सिगर्ड, ब्रिनहिल्ड-वाल्कीरी ग्रौर फाफनेर (दानव) हों, ग्रथवा लैटिन हरकुलिस, डोयोनाइसियेस की गायें ग्रौर कौकस हों, ये सबके सब, इंद्र से लेकर हरकुलिस तक, प्रकाश के स्वामी सूर्य ही के प्रतीक हैं। इसी प्रकार सरमा (ग्रौर उसकी गायें), हेलेन, पेनिलौप, ब्रिनहिल्ड-वाल्कीरी तथा कौकस द्वारा चुराई हुई गायें, ये सबकी सब प्रकाश की देवियां हैं, जिन्हें पणि, पैरिस, विवाहोन्मत्त यूनानी राजागण, फाफनेर तथा कौकस ग्रादि निशाचर चुरा ले जाते हैं या चुरा ले जाने का प्रयास करते हैं। इन समस्त कथानकों में इन चोरों की खोज है ग्रौर फिर उनके साथ भयंकर संग्राम है ग्रौर सदैव ही प्रकाश के स्वामी या देवता के हाथों इन निशाचरों या निशाचर-पतियों का निपात है ग्रौर ग्रंत में है प्रकाश की देवी की मुक्ति !

ग्रतिशय शीत ग्रौर ग्रंधेरे में विचरण करने-वाले हिंस्र पशुग्रों तथा निशाचरी वृत्तिवाले[1] दानवों ग्रौर प्रेतात्माग्रों के ग्रातंक के कारण, निशा, निशाचर ग्रौर निशाचर-पतियों के प्रति घृणा तथा रोष के भाव ग्रौर उष्णता, उर्वरता, प्रकाश तथा ग्रनंत जीवनों का दान देने वाले दिनकर से सुख, समृद्धि ग्रौर स्फूर्ति की प्राप्ति के कारण उनके प्रति ग्राह्लाद, कृतज्ञता ग्रौर उत्साह का भाव, रात्रि में शयन ग्रौर सूर्य के प्रकाश में कर्म-रत रहनेवाले प्रत्येक सूर्यवंशी के लिए स्वाभाविक ही था। किन्तु, वही सूर्य निशाचरों के लिए ग्रड़चन पैदा करने वाला होने के कारण एक बड़ा दुःखदायी शत्रु बना रहता था। यही कारण है कि प्रकाश को

---

[1] कितने ही ग्रत्यंत सिद्धहस्त चोर रोशनी में ताला या तिजोरी तोड़ नहीं पाते। वे केवल ग्रंधेरे में ग्रपनी स्पर्शशक्ति से नेत्र-शक्ति से ग्रधिक सहायता प्राप्त करते हैं।

तिरोहित करने के लिए अंधकार के स्वामी का सतत प्रयत्नशील रहना और सूर्य के प्रकाश को पुनः संस्थापित करने में अंधकार के स्वामी, तूफान, ग्रहण, कुहासा, रात्रि आदि, से (आदि-मानव की दृष्टि में) युद्ध करके उसका विनाश करना, मानव-कल्पना के इतिहास में, ऐसा ही सहज, स्वाभाविक और अपरिहार्य कृत्य रहा है, जैसाकि दिन के बाद रात्रि के अंधकार का प्रसार और रात्रि के अवसान पर पुनः दिन का शुभागमन । प्रकाश की देवी की अंधकार के स्वामी द्वारा यही चोरी और सूर्य (या इंद्र) द्वारा उस चोर का युद्ध में विनाश, और प्रकाश की देवी का यही उद्धार वाल्मीकि की 'रामायण' के उत्तरार्द्ध (युद्ध-कांड) का भी तो कथानक है । यहाँ राम ही सूर्य (या सूर्यवंशी) हैं, सीता (सित यानी श्वेत-वर्णा) ही प्रकाश की देवी हैं और निशाचर-पति रावण ही अंधकार का स्वामी है । अंतर केवल इतना है कि वेदवाला रावण यानी पणि इंद्र से पराजित होकर उनके हाथों मारा जाता है, किन्तु, यहाँ वाला पणि अर्थात् रावण इतना बलवान् है कि उसका बेटा मेघनाद ही इंद्र को पछाड़कर इंद्रजित् कहलाने लगा है । खैर, इसकी चर्चा यहाँ नहीं करनी है । एक दूसरा अंतर, जो विशेष द्रष्टव्य है, यहाँ उसी की चर्चा अभीष्ट है और वह अंतर यह है कि ऋग्वेद और होमर के काव्यों में नारी-चरित्र के कर्दम और उदात्त दोनों ही पक्षों का चित्रण है, किन्तु, यहां नारी-चरित्र के दुर्बल-पक्ष का कहीं नामोनिशान तक नहीं है । वाल्मीकि की सीता में वेदों की सरमा (कुतिया) अथवा होमर काइलियेड की हेलेन की चंचलता और छल का कोई प्रभाव नहीं है । पणियों द्वार फुसलाई जाने पर जिस दृढ़ता के साथ सरमा (मानवी) जवाब में कहती है, 'मैं नहीं जानती कि इंद्र को भी कोई जीत सकता है क्योंकि, सबको तो इंद्र ही जीतते हैं । गहरी से गहरी धारा भी इंद्र को रोक नहीं सकती । हे पणियों ! शीघ्र ही इंद्र तुम सबको अपने बाणों से मार गिरायेंगे ।' उसी तेजस्विता और दृढ़ता के साथ सीता भी, जो पेनिलौप ही के समान सब प्रकार से असहाय हैं, रावण की चाटुकारिता तथा प्रलोभनों को ठुकराती हुई कहती हैं :—

गिरिं कुवेरस्य गतोऽथवालयं
सभागतो वा वरुणस्य राज्ञः ।
असंशयं दाशरथेन मोक्ष्यसे
महाद्रुमः कालहतोऽशने रिव ॥

यह मानते हुए भी कि वेदों के सरमा-पणि तथा इलियेड के हेलेन-पैरिस के बीच समय की जो दूरी होगी, उससे कम होमर और वाल्मीकि के बीच वह दूरी

नहीं हो सकती, यहां यह प्रश्न उठता है कि वेद और इलियेड की सरमा (कुतिया) तथा हेलेन की, वाल्मीकि की सीता में लेशमात्र झलक भी न पड़ने का क्या कारण है ? समय की दूरी ? या कथानक के पूर्ण पुरातन स्वरूप की वाल्मीकि की अनभिज्ञता ? जी नहीं, इनमें से एक भी नहीं । यहां यह कह देना जरूरी होगा कि पेनिलौप की दृढ़ता और पति-परायणता के बावजूद उस काल ही में इस एक क्षीण जनापवाद का भी उल्लेख मिलता है कि यूनानी देवता 'पैन' (बकर-मानुस यानी बकरे के धड़ और मनुष्य के शिरवाला) पेनिलौप ही का औरस पुत्र था, जो औडिसियेस की अनुपस्थिति में ही, उन विवाहोन्मत्तों में से किसी एक या शायद 'हरमीज'[1] के संसर्ग से अपनी माता के गर्भ में आ गया था । रावण-वध के बाद लंका ही में सीता की अग्नि-परीक्षा की योजना द्वारा वाल्मीकि ने निस्सन्देह एक ओर तो उस अलौकिक प्रतिभा का प्रमाण दिया है, जो अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है और दूसरी ओर बड़े विशेष कौशल से यह भी झलका दिया है कि उन्हें पुरानी सभी अनुश्रुतियों का ज्ञान है । सीता की अग्नि-परीक्षा अथवा उनके वन-वास (निर्वासन नहीं) के सम्बन्ध में दूर की कौड़ी लाकर तरह-तरह के कुतर्क और शंकाएं तथा प्रश्न खड़े करनेवाले महाशयों को इन पंक्तियों में अपने प्रश्नों का उत्तर ढूंढ़ लेना चाहिए । किन्तु, यदि वे न ढूंढ़ सकें, तो वे झख मारें, क्योंकि तब वे झख मारने के सिवा कुछ कर भी नहीं सकते । अतः वाल्मीकि की अनभिज्ञता की बात मैं कैसे मानूं ? वास्तव में इस परिवर्तन का एक मात्र कारण है भारत की अंतरात्मा या भारत-भूमि का वह आदिम संस्कार, जिसके सम्बन्ध में मैं पहले कह चुका हूँ कि प्रत्येक देश की अपनी एक विशिष्ट अमर अंतरात्मा होती है और वही होती है उस धरती की ऊष्मा या आत्मा । यही उस देश के निवासियों की संस्कृति अथवा जातीय या राष्ट्रीय चरित्र कहलाता है । सीता के उपर्युक्त शब्दों में आज भी यह भारतीय नारी के उसी आदिम संस्कार—अपने पति में अमिट आस्था और उसकी शक्ति में अटल विश्वास ही का उद्घोष है ।

---

[1]यह यूनानी शब्द मेरे विचार में संस्कृत का 'समीर' ही है । 'हरमीज' यूनानी पौराणिक कथाओं में वायु का देवता है । कृष्ण के चरित्र में माखन-चोरी, मुरली-वादन और रासलीला के अवसरों पर; हनुमान् में पालने से उचककर जन्म के प्रथम या द्वितीय दिन ही सूर्य को निगल लेने में और इंद्र में उनके अहिल्या को छलने जैसे कर्मों में हमें 'हरमीज' के चरित्र की काफी झलक मिल जाती है । हनुमान् तो 'समीर-सुवन' हैं ही ।

भारत की राष्ट्रीय ऊष्मा द्वारा नारी को प्रदत्त उसकी इस प्रचंड चारित्रिक दृढ़ता का सभ्यता के आरंभ ही से भारतीय जीवन में इतना अखंड संचरण था कि इस सत्य के संमुख किसी भी इसके विरोधी ऐतिहासिक तथ्य की कोई हैसियत नहीं। राष्ट्र के ऐसे जातीय संस्कारों को स्वयं पहचानकर दूसरों को इसकी पहचान करानेवाला कवि ही उस राष्ट्र के 'महावदानों' की रचना करने में सफल वहां का राष्ट्रीय कवि होता है। वाल्मीकि ऐसे ही राष्ट्रीय कवि थे। भारत के राष्ट्रीय चारित्र्य का यह पक्ष संसार में सबसे अधिक उज्ज्वल है। यही कारण है कि 'पतिव्रता' शब्द के अर्थ की व्यंजना करनेवाला शब्द संसार के किसी अन्य देश की भाषा में मिलता नहीं।

यह तो रहा पति एवं अन्य पुरुषों के प्रति भारतीय नारी के दृष्टिकोण का उदाहरण। भारतीय चरित्र में सत्य की विजय एवं जीवन के भविष्य की उज्ज्वलता में अदम्य विश्वास तथा टेढ़ी-मेढ़ी गलियों के बजाय सीधे राज-मार्ग से चलने की स्वाभाविकता के विकास का भी ऐसा ही कुछ मनोरंजक विवरण है।

अमरकोश में इंद्र के ३५ नाम दिए हैं, जिनमें से तीन नहीं तो अवश्य ही दो—'आखंडल' और 'गोत्रामिद्' (तीसरा है 'पुरंदर'[1])—इंद्र को पर्वत फाड़नेवाला वतलाते हैं। ऐसी किंवदंती है कि पहले पर्वत उड़ा करते थे, किन्तु, इंद्र ने जब उनके पंख काट डाले, तब वे परकटे हो गए और पुनः पंख न जम सकने के कारण वे सब परकटे आज जहां-के-तहां पड़े हुए हैं। तिब्बत-यात्रा में जब हमारी ल्हासा की मंजिल सिर्फ दो दिन की और रह गई थी, हमें 'चासम छोरी' नामक पहाड़ी के नीचे से बहती हुई चाङ्पो (ब्रह्मपुत्र) को नाव पर, खच्चरों समेत, (१७ मई १९३४ ई० को) पार करना पड़ा था। वह चासम-छोरी पहाड़ आस-पास के पहाड़ों जैसा मटियाला और भुरभुरा नहीं, वरन् तांबे के रंग का और एकदम ठोस पत्थरों वाला है, और वहां के लोगों का कहना है कि वह कितने ही अन्य पर्वतों की तरह 'ग्यग्गर' (भारत) से उड़कर वहां पधारे थे। संस्कृत भाषा के 'पर्वत' शब्द का मूल अर्थ है—'जिसके उभरे हुए हिस्से हों।' उभरे हुए हिस्से जैसे पर्वतों (पहाड़ों) के होते हैं, वैसे ही बादलों के भी। इसी

---

[1] पुर को फाड़नेवाला 'पुरंदर' है, और पुर का अर्थ है घर, नगर और घर-पर-घर। घर-पर-घर पर्वत में भी जान पड़ता है, अतः, पुर का अर्थ पर्वत भी होता है। अतः पुरंदर हुआ घर-पर-घर को फाड़नेवाला, अथवा पर्वत को फाड़नेवाला!

कारण 'पर्वत' शब्द किसी समय 'बादल' और 'पहाड़' दोनों ही की व्यंजना करता था। संस्कृत ही में नहीं, भारत-योरोपीय कुल की अन्य भाषाओं में भी ऐसे शब्द पाए जाते हैं, जिनसे आभास मिलता है कि किसी बहुत पुराने समय में हमारे पूर्वज पहाड़ों और बादलों में भेद नहीं पाते थे।

वे पहाड़ों को भी उड़ने की शक्ति रखनेवाले बादल ही समझते थे। उदाहरणार्थ प्राचीन नार्वेजनीन भाषा का 'क्लैकर' शब्द, जो बादल और पर्वत दोनों ही के लिए प्रयुक्त होता था। दूसरा है ऐंग्लो-सैक्सन भाषा का 'क्लूड' शब्द (जिससे अंग्रेजी का क्लाउड—बादल शब्द बना है) जिसका अर्थ पर्वत होता है।

हमारे यह सब कहने का उद्देश्य केवल इतना ही बतलाना है कि सुदूर अतीत में हमारे पुरखे बादल, बिजली, सूर्य, आकाश, दिन और रात को इन्हें आज हम जो कुछ समझते हैं वह नहीं, वरन् कुछ और ही समझते थे। एकदम तूफान और बादलों के बीच सूर्य को अस्तगत होता देख-कर, अथवा सूर्य-ग्रहण के समय अकस्मात् पश्चिम दिशा में पहुँचने के पूर्व ही सूर्य को क्रम-क्रम से अंधकार में डूबता देखकर, प्रत्येक सूर्यवंशी, अर्थात् अन्धकार के ऊपर सदा प्रकाश की विजय की अभिलाषा रखने वाले, को अपार भय, निराशा और शोक अवश्य ही होता रहा होगा। यह भी सम्भव है कि बहुत दिनों तक प्रत्येक शाम को सूर्य का तिरोहित होना देखकर यह निश्चित विश्वास न होने से कि कितने घंटों के बाद रात्रि का अंत होकर पुनः सूर्य के दर्शन होंगे, या न होंगे, वे रुदन भी करते रहे होंगे। सच तो यह है कि संध्या-समय पश्चिम में डूबकर प्रातःकाल पूर्व में उदित होने वाला सूर्य रातभर रहता कहाँ है और करता क्या है और कितने अनन्त संघर्षों के बाद, कितनी लम्बी यात्रा पूर्ण करके, फिर पूर्व में कैसे आ पहुँचता है, यह सब उनके लिए न जाने कितने युगों तक एक महान् रहस्यवाद बना रहा होगा। इन प्रश्नों के उत्तर में उन्होंने, न जाने, कितनी कविताएँ गाई होंगी। वेद, होमर के काव्य, जर्मनी के सागा आदि उनकी गाई हुई कविताएं ही तो हैं। फिर सूर्य के उत्तरायण होने पर, जर्मनी, डेनमार्क तथा नार्वेस्वीडन के प्राचीन निवासी हमारे पूर्वज हफ्तों टिकी रहनेवाली बदली, कुहासे और तुहिनपात एवं प्राणांतक उत्तरी हवा के झकोरों से विचलित होकर, सूर्य का स्पष्ट दर्शन न पाकर उसके सम्बन्ध में न जाने कितनी-कितनी दुश्चिताएं करते रहे होंगे। आज हम उसकी कल्पना भले ही न कर सकें, हमें मानना पड़ेगा कि उनकी वे सब चिंताएँ ही घनीभूत होकर इन प्राचीन किवदंतियों में आ सिमटी हैं।

वह सब कहते और सुनते समय मेरी यह निश्चित धारणा है कि सूर्यवंशियों में भी, भारत भूमि के निवासी आर्यों ही को, यहां की प्राकृतिक अनुकूलता के प्रसाद से, सर्व प्रथम सूर्य की गतिविधियों की सर्वाधिक जानकारी प्राप्त हुई थी। यही कारण है कि वेदों और उपनिषदों से लेकर आधुनिक नई कविता के तरुणतम कवि तक के काव्य में सत्य की विजय के उसी अखंड विश्वास एवं जीवन के प्रति अमिट आशावाद के स्वर लहरा रहे हैं। जिस अटल विश्वास और तीखेपन के साथ विष्णु शर्मा—'दुष्टानांच खलानांच, पर द्रव्यापहारिणाम्। अभिप्राया न सिद्धयन्ते, तेनेदम् वर्तते जगत्।' और मध्यकालीन कवि (ठाकुर) 'काहे अरे मन ! साहस छांड़त काहे उदास व्है आस तजै है' ? वे सुख ये दुख आये चले गये, एकसी रीत रही नहि रैहै।' इत्यादि कहते हैं, उसी आस्था और अखंड विश्वास के साथ आज का हमारा तरुण कवि भी कह रहा है :—

आस्था की किरण जीतेगी अंधेरा
भूमि पर होगा सबेरा
तब न यह बातीं बुझाना...
दीप भी तो देख ले वह भोर-वेला,
जिसे लाने के लिये वह आज तक संघर्ष झेला !

और सूर्य को सदा ही निश्चित मार्ग पर सीधे-सीधे चलता देखकर ही भारतीय आर्यों को सदा साबित-कदम रहनेवाले के तीन डगों ही में तीनों लोकों के नप जाने की कल्पना हुई, उपनिषदों ने 'चरैवेति चरैवेति' का गान किया; गौतम बुद्ध ने 'चरसि भिक्खवे बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' कहकर उन्हीं स्वरों को दुहराया और इन्हीं शब्दों का, हमसे कुछ दूर पड़ गए हमारे चचेरे-भाइयों ने भी अपने शब्दों में इस प्रकार उद्घोष किया :—

'राहे रास्त बरौ, गरचे दूर अस्त।'

अर्थात् सीधे रास्ते चलो, भले ही वह अन्य रास्तों से कुछ लम्बा हो।

(४)

भारतीय-चारित्र्य के अनुसार नारी के प्रति भारतीय पुरुष का कैसा आचरण होता है, इसकी मीमांसा मैं अन्यत्र कुछ विस्तार से कर चुका हूँ। भारत में हल, सांड (या कहीं-कहीं भैंसे) जोतते हैं। और योरप में घोड़े। इस तथ्य के कारण

दोनों दिशाओं में बसी आर्य-जाति की प्रजनन-परम्परा में बड़ा तात्त्विक अन्तर आ गया है। सूर्य का रथ हांकनेवाला उच्चैःश्रवा घोड़ा कहा जाता है। इससे सिद्ध है कि भारत में आने के समय तक इन्द्र या सूर्य के वाहन वृषभ नहीं, अश्व थे। किन्तु, जब भारतीय सांडों से उनका परिचय हुआ और, समय पाकर भारत के पूर्ण पौरुष के प्रतीक शिव के वाहन वृषभ नन्दी ने उनके (इन्द्र के या आर्यों के) घोड़ों को हुरपेटा, तब वे दुम दबाकर भाग खड़े हुए ! हमारे यहां यह अथर्ववेद के 'अश्वो वोल्हा सुखं रथं हसनामुख मंत्रिणाः। शेषो मोमण्वन्तौ भेदौ...।।' आदि वाली अश्वता पहले जीवन में और फिर साहित्य में ऐसी समाप्त हुई कि उन घोड़ों की हिनहिनाहट फिर कभी नहीं सुनाई पड़ी। भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व ही यहां गाय माता बन चुकी थी। यही कारण है कि भारतीय आर्यों की नारी-भावना में मातृत्व-तत्त्व की प्रमुखता हुई। उधर योरप में जीवन और साहित्य में घोड़े खूब हिनहिनाए, और अब भी हिनहिनाते जा रहे हैं ! योरपीयों को अपने घोड़ों से दूध तो मिल नहीं पाता था, सम्भवतः इसलिए नारी के मातृत्व-रूप की ओर उनका ध्यान उतना नहीं गया, जितना उसके रमणी-रूप की ओर। गाय का जो गौरव भारतीय जीवन में हुआ, वह महत्त्व घोड़े का योरपीय जीवन में हुआ। इसी कारण लालिमा रंगों में उनकी सभ्यता का प्रतीक है, जबकि हंस के पंख की, कमल की पंखुड़ियों की और गाय के दुग्ध की सितता या सफेदी रङ्गों में भारतीयता का प्रतीक बनी। संक्षेप में, योरप की सभ्यता का रंग भले ही रक्त की लालिमा और उसका आधार अश्व हो, भारत की सभ्यता का रँग तो दूध की सफेदी है और उसका आधार है वृषभ। पूरब और पश्चिम की सभ्यता में नारी और प्रजनन-परम्परा के प्रति दृष्टिकोण का यह मौलिक अन्तर याद रखने की बात है। इसी कारण भारतीय पुरुष की दृष्टि में प्रत्येक नारी (चाहे वह उसकी पत्नी ही क्यों न हो) रमणी उतनी नहीं होती, जितनी जननी और धात्री होती है। प्रथम पुत्र के जन्म के बाद अपनी पत्नी को मातृवत् मानने की परम्परा केवल भारत ही में सुनी जा सकती है। ये दृष्टिकोण, जिन्हें हमने आदिम-संस्कार का नाम दिया है, हमारे राष्ट्रीय-चरित्र का एक विशेष अंग हैं। ये आदर्श नहीं, शुद्ध यथार्थ हैं, अतः इनके संबंध में किसी प्रकार का प्रयोग निरर्थक और हानिकारक ही सिद्ध होगा।

●

६ : पसीना और गुलाब !

० ० ०

यदि इस विराट् अनन्त ब्रह्मांड रूपी अरण्य में मानवता एक छोटे से पुष्प-वृक्ष के समान है, और उस वृक्ष में हमारा-आपका जीवन टहनियों के समान है, तो मानना पड़ेगा कि इनसान की जवानी ही उस टहनी में खिलने वाली गुलाब की कली है, और तन्दुरुस्ती ही है उस गुलाब की खुशबू ! और जिस प्रकार गुलाब की कली के खिलने, और कली में रंग और खुशबू के भरने के लिये गुलाब के पौदे का सींचा जाना जरूरी होता है, उसी प्रकार यौवन में रंग और खुशबू की प्रतिष्ठा के लिये जीवन-रूपी बिरवे को पसीने से सींचना जरूरी होता है। सच मानिये, जिस जिन्दगी में जितना ही अधिक पसीने का सिंचन होता है उस जवानी में उतनी ही अधिक सुगंध भरती है, और उस बुढ़ाई में भी गुलाबी बनी रहती है। यों तो मानव के जीवन में प्रत्येक अवस्था में पसीने का महत्त्व है, किन्तु जवानी में पसीने का सबसे अधिक महत्व होता है। जवानी में पसीना भी गुलाब रहता है। तभी तो किसी ने कहा है कि :—

वे दिन भी क्या थे जब कि पसीना गुलाब था !

मानना पड़ेगा कि स्वास्थ्य ही मानव प्राणी की सबसे बड़ी खूबसूरती और उसका सबसे बड़ा शृङ्गार है। यद्यपि आज के जमाने में प्रसाधनों की भरमार, और 'विटामिनों' के चमत्कार से कुछ साधन-सम्पन्न लोग पैसे के बूते अपने को प्रियदर्शी और बरिष्ठ (बलिष्ठ भी) बनाये रखना आसान समझा करते हैं, पर सचाई यह है कि जिसके पास तन्दुरुस्ती नहीं है वह पैसों के बूते सौंदर्य और सुख की प्राप्ति नहीं कर सकता। इसके विपरीत जिसके पास तन्दुरुस्ती है उसको, पास में पैसा न होने पर भी सुख और सौंदर्य की अपने आप उपलब्धि होती रहती है। तभी तो गालिब ने कहा है कि :—

तंगदस्ती अगर न हो गालिब।
तन्दुरुस्ती हजार नेमत है ।।

बंगाली बन्धुओं द्वारा हमारे तन्दुरुस्ती शब्द का बंगला उच्चारण—'तोन्दुरुस्ती' —अर्थात् तोंद (=पेट तथा मराठी तोंड्=शरीर) की दुरुस्ती यानी पाचन-क्रिया का सुचारु रूप से संचालित रहना, स्वास्थ्य की सबसे बड़ी गारंटी है। यही स्वास्थ्य का साधन भी है। यही कारण है कि कुछ 'तोंद-दुरुस्त' (तन्दुरुस्त अथवा दुरुस्त तोंद वाले) अकसर अपनी तोंद पर हाथ फेर-फेर कर संतोष और गर्व के साथ इन्हें (तोंद जी को !) 'भोला-भंडारी' के नाम से संबोधन किया करते हैं। कुछ इस तरह कहा करते हैं कि : 'मैं तो अपने भोला-भंडारी का सेवक हूँ, इन्हीं का गुलाम हूँ। इनकी जो आज्ञा होती है उसी का पालन करता हूँ !' ठीक ही तो है। भंडारी या कोठारी यदि कोठे (या कोठरी) में ताला भर कर किसी दिन शाम या सबेरे खिसक जाय तो उस दिन परिवार के प्रत्येक प्राणी को कितनी उदासी और अड़चन झेलनी पड़ती है। उतनी ही उदासी और अड़चन 'भोला-भंडारी' (पेट) की कोष्टबद्धता के कारण शरीर के प्रत्येक 'मेम्बर' (=अंग) को भोगनी पड़ती है। पाचन-क्रिया में व्यवधान पड़ा जाने से संसार की समस्त सुविधाएं बेकार और फीकी पड़ जाती हैं। अमरीकी धन-कुबेर रौक-फेलर के पास अपार सम्पत्ति थी, फिर भी उनका जीवन उन्हें भार बन गया था। खाने के लिए उन्हें दिन-रात में केवल दो आलू दिये जाते थे, क्योंकि वे अधिक पचा नहीं पाते थे।

किसी समय हमारे देश का बहुसंख्यक ग्राम-निवासी जन-समाज स्वस्थ और नीरोग रहने के लिये 'जन-स्वास्थ्य-विभाग' एवं सरकारी अस्पतालों, और ढेर-भर दवाइयों के आसरे रहने के बजाय, 'प्रिवेन्शन इज बेटर दैन क्योर !'—अर्थात

इलाज की अपेक्षा अहार-विहार के उचित आचरण द्वारा स्वस्थ और नीरोग रहने को अधिक महत्त्व देता था। यही कारण है कि जन-भाषा में आज भी स्वास्थ्य और आहार-विहार से सम्बन्ध रखने वाली अनेक लोकोक्तियां प्रचलित हैं, जिनका संकलन तथा अनुशीलन पर्याप्त उपादेय हो सकता है। यहां यही अनुशीलन आज हमें अभीष्ट है।

अहार के अन्तर्गत खान-पान का, और विहार के अन्तर्गत शयन, संभोग, मनोविनोद, हास-परिहास आदि की गणना हो सकती है।

० ० ०

भोजन

अन्नों में चने का स्थान विशेष माना गया है। 'खाय चना रहे बना !' लोकोक्ति प्रसिद्ध है। चैत्र मास में चने का आहार विशेष रूप से गुणकारी माना गया है। चना अमीरों का भी अन्न है और गरीबों का तो वह है ही। यह बात प्रसिद्ध है कि अपने पुत्र औरंगजेब द्वारा बन्दी हुए सम्राट् शाहजहां को जब यह बताया गया कि सरकारी हुक्म के मुताबिक उन्हें केवल एक ही अन्न दिया जा सकेगा, और उनसे पूछा गया कि वे कौन-सा एक अन्न लेना पसन्द करेंगे तब, कहा जाता है कि, पदच्युत शाहंशाह ने चना लेना ही मंजूर किया था। चने से रोटी भी और दाल भी, और उसके बेसन से तरह-तरह के लड्डू, कढ़ी, भजिया, पकौड़ी, बुंदिया आदि व्यंजन तैयार किये जा सकते हैं। फिर भी एक प्रसिद्ध लोकोक्ति में चना या रहिला (या होला या छोला) अन्नों में गुलाम अर्थात् जनता का अन्न माना गया है, और गेहूँ (गोधूम, गंदुम फ़ा०) या 'कनिक' अन्नों का ठाकुर या राजा बखाना गया है। लोकोक्ति इस प्रकार है :—

कदम कदम, पीपल मुकदम,
गेहूँ ठाकुर, जौ दीवान।
अरहर चेरी, चना गुलाम,
सरसों ठाढ़ी करै सलाम।।

एक दूसरी लोकोक्ति में मंडुआ समस्त धान्यों में निकृष्ट माना गया है :—

ऊँचे चढ़ के बोला मंडुआ,
सब नाजों का हूँ मैं भंडुआ।

आठ दिना मुझको जो खाय,
भले मर्द से उठा न जाय ।।

किन्तु भोजन कैसा ही उत्तम और सुस्वादु क्यों न हो, यदि मैले मन और बिना मान के परोसा जाय और खाया जाय, तो वह एक दम नीरस और कभी-कभी विषाक्त हो जाता है। इसके विपरीत शाक-पात भी यदि स्नेह और सन्तुष्ट मन से खाया-खिलाया जाय तो वह अमृत के समान मधुर और स्वास्थ्यप्रद बन जाता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह दूसरों की चिकनी-चुपड़ी (रोटी) के आकर्षरण में न फंसे। इस सम्बन्ध में रहीम कवि के तीन दोहे जो लोकोक्ति बन चुके हैं, बड़े ही मार्मिक हैं ;—

'रहिमन' रहिला की भली,
जो परसै मन लाय ।
परसत मन मैला करै,
सो मैदा जरि जाय ।।१।।

अमी पियावत नमा विनु,
'रहिमन' हमें न सुहाय ।
प्रेम सहित मरिबो भलो,
जो विष देय बुलाय ।।२।।

रूखी-सूखी खाइ के,
ठंढा पानी पीव ।
देखि पराई चूपड़ी,
मति ललचावै जीव ।।३।।

०००		०००

मर्द के लिये अधिक खटाई का सेवन, और स्त्री के लिये अधिक मिठाई का सेवन घातक माना गया है। लोकोक्ति है :—

गया मर्द जो खाय खटाई ।
गई नार जो खाय मिठाई ।।

कुछ लोगों की यह आदत होती है कि कोई न कोई 'चीज' मुंह में डालकर मुंह चलाते ही रहते हैं। अमीर हैं तो जेब में पिस्ता या काजू (या खुटिया),

और गरीब हैं तो चना या चीना-बादाम (मूंगफली) भर लेते हैं, और रह-रह कर दायें-बायें झांक निरल्ला पाते ही एक 'झोका' मार लेते हैं। निम्न लोकोक्ति के अनुसार यह बुरी आदत स्वास्थ्य के लिये बहुत हानिकारक मानी गई है :—

खावै बकड़ी की तरह।
तो सूखै लकड़ी की तरह॥

सभ्यजनों के भोजनों में हल्दी और हींग का उचित अनुपात में सेवन बहुत आवश्यक माना गया है। तभी तो कहते हैं कि :—

जा घर हींग न हरदा।
ता घर जेवैं बरदा॥

किन्तु जिस घर का कुलपति अफीमची हो उस घर में हींग का प्रवेश नहीं होना चाहिये, क्योंकि हींग की गन्ध से अफीम का नशा उखड़ जाता है।

एक ही अन्न या शाक-भाजी किसी को अनुकूल पड़ती है, और किसी को प्रतिकूल। निम्न लोकोक्तियों में इस तथ्य का बड़ी मार्मिकता के साथ उल्लेख हुआ है :—

भटा काहु को पित करै, करै काहु को बात।

अथवा—

किसी को बैगन पथ बराबर।
और किसी को विख बराबर॥

अतः प्रत्येक व्यक्ति को यह जानने की कोशिश करनी चाहिये कि किस-किस चीज का सेवन उसकी प्रकृति के अनुकूल पड़ता है, और किस-किस चीज का सेवन प्रतिकूल पड़ता है। फिर जो चीज उसके माफिक पड़ती हो उसे ग्रहण करे, और जो नामुवाफिक पड़ने वाली हो उसे भूलकर भी न छुये। भोजन के मामले में देखा-देखी पुन्न और देखा-देखी पाप का अनुगमन भूल कर भी नहीं करना चाहिये। कहा भी है कि :—

देखा-देखी साधै जोग।
छीनै काया, बाढ़ै रोग॥

यही कारण है कि भोजन के सम्बन्ध में अपनी ही रुचि को प्रमुखता देने का बूढ़े-सयाने उपदेश कर गये हैं। उनका कहना है कि, 'आप रुचि भोजन—पर रुचि शृङ्गार।' अर्थात् भोजन जो अपने को पसन्द पड़े वही करना चाहिए, और वेश-भूषा वह धारण करनी चाहिए जो देखने वालों को रुचे ! कई लोगों को हमने यह कहते सुना है कि स्वस्थ आदमी तो पत्थर भी हजम कर लेता है। मैं कहता हूँ कि स्वस्थ आदमी को अपने स्वास्थ्य के हित में 'पत्थर' (पत्थर समान ठोस खाना) तो कभी भूल कर भी मुंह में नहीं भरना चाहिये। स्वास्थ्य के प्रति असावधानी या अहंकारजनित उपेक्षा किसी को भी नहीं बरतनी चाहिये। जब भी किसी ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया है, उसे धोखा खाना पड़ा है। अधिक से अधिक हम इतना मान सकते हैं कि स्वस्थ आदमी की पाचन क्रिया ठीक रहती है। पर यही बात यों भी तो कही जा सकती है कि जिनकी पाचन-क्रिया ठीक रहती है उनका स्वास्थ्य ठीक रहता है। समय पर अच्छी भूख का लगना, रात में बिस्तरे पर लेटते ही नींद का आना और प्रातःकाल खाट से उठते ही 'जाइये जरूर' (जाए जरूर) के लिये पैर बढ़ाना अनिवार्य हो जाना अच्छे स्वास्थ्य के लक्षण माने गए हैं। स्वस्थ आदमी को खान-पान पर सदैव विशेष ध्यान देना चाहिए। यह बात किसी को नहीं भूलनी चाहिये कि पसीना का सिंचन पाए बिना गुलाब (स्वास्थ्य) खिल नहीं पाता ! यह हो नहीं सकता कि डंड-बैठकें तो आप से चवन्नी-अठन्नी पाकर कोई और करे और खाना हजम आपका हो ! पैसे वालों को यह कभी न भूलना चाहिये कि शारीरिक परिश्रम करने से जिनकी पाचन-क्रिया ठीक रहती है उनके शरीर को सामान्य भोजन से भी पर्याप्त रस और जीवन-शक्ति प्राप्त होती रहती है, इसके विपरीत लद्धड़ और आराम-तलब लोगों की जठराग्नि मंद पड़ जाने से उनका भाग्य भी, लाख पैसा होने पर भी, मंद पड़ जाता है, जैसा कि अमरीका में धनकुबेर रौक-फेकर महाशय का हाल था।

फलों में आम और बेर ही ऐसे हैं जिन्हें भूखा रहने यानी खाखी पेट खाने से भी हानि नहीं होती। कहा गया है कि : 'भूखे बेर, अघाने गन्ना !' हमारे पाक-शास्त्रों में सरलता से हजम हो सकने वाले और आसानी से प्रस्तुत किये जा सकने वाले व्यंजनों का विस्तार में वर्णन है। यहां इस बात की बड़ी छान-बीन रही है कि किन-किन महीनों में किस-किस चीज का सेवन या त्याग स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है। उदाहरणार्थ अगहन महीने में भोजनों में जीरे का प्रयोग, और पूस महीने में धना (धनिया या कोथमीर) का प्रयोग नहीं

होना चाहिये। इस सम्बन्ध में निम्न दो लोकोक्तियां बहुत विख्यात और मनन करने योग्य हैं :—

(विधि)

चइत चना, बैसाखे वेल। जेठे शयन, असाढ़े खेल॥
सावन हर्रें, भादों तित्त। क्वार मास गुण सेवै नित्त॥
कातिक मूली अगहन तेल। पूसै करै दूध से मेल॥
माघ मास घिव-खिच्चड़ खाय। फागुन उठि नित प्रात नहाय॥
इन बारह सों करै मिताई। तो काहे घर वैद बुलाई॥

इस प्रकार चैत्र में चना, बैशाख में वेल, सावन में हड़, क्वार (असोज या असोन) में गुड़, कार्तिक में मूली, पूस में दूध, माघ में घी-खिचड़ी का सेवन आवश्यक माना गया है।

(निषेध)

चैते गुड़, बैसाखे तेल। जेठै पंथ असाढ़ै वेल॥
सावन साग, न भादों मही। क्वार करेला कातिक दही॥
अगहन जीरा, पूसै धना। माघै मिश्री, फागुन चना॥
इन बारह से बचै जे भाई। ता घर बैद कबौं न जाई॥

० ० ० ० ० ०

भोजन के अतिरिक्त पान का भी आहार के अन्तर्गत शुमार है। दुग्ध-पान स्वास्थ्य के लिये सर्वोत्तम माना गया है। कुछ लोगों का तो यह कहना है कि बकरी का दूध ही अमृत है। कहावत है कि :—

नीम दतीवन जे करैं, भूंजी हर्र चबांय।
दूध बियारी नित करैं, तिन घर बैद न जायँ॥

यही लोकोक्ति तनिक से परिवर्तन के साथ निम्न रूपों में भी प्रचलित है। इसमें प्रातःकालीन जल-पान का (जिसे अमृत-पान भी कहते हैं) महत्त्व दर्शाया गया है :—

दूध बियारी जे करैं, भूंजि हर्र जे खांय।
बासी मुंह पानी पियैं, तिन घर बैद न जाहि॥

भोजन के अन्त में मठा, दिन के अन्त में (सन्ध्या समय) दूध और रात्रि के अन्त में, अर्थात् बासी मुंह जल पीने से समस्त व्याधियों का विनाश होता है :—

भोजनान्ते पिवेत् तक्रं, दिनान्ते च पिवेत् पयः ।
निशान्ते च पिवेत् वारि, सर्व व्याधि विनाशनम् ।।

दूध, दही, मक्खन और मठा को क्रमशः पिता, पुत्र, पौत्र (या नाती) और प्रपौत्र या पनत (या पनाती) कह कर मठा का महत्त्व निम्न लोकोक्ति (प्रहेलिका) में बड़ी सुघराई से प्रतिपादित किया गया है :—

बाप बड़ो, बेटा बड़ो, नाती बड़ो अमोल ।
पै पनात पैदा भयो, तीनों से अनमोल ।।

पेय पदार्थों में दूध और मठे का तो महत्त्वपूर्ण स्थान है ही, फारसी की निम्नांकित लोकोक्ति के अनुसार एक अन्य पेय भी बतलाया गया है। वह है 'मै' यानी शराब ! लोकोक्ति इस प्रकार है :—

ब हर साल मुसहिल, ब हर माह कै ।
ब हर हफ्त———, ब हर रोज मै !

अर्थात् साल में एक बार विरेचन (जुल्लाब या मुंजिश), महीने में एक बार वमन,... ...और दिन-रात में एक बार 'दारू' (मै) का सेवन करने से सुन्दर स्वास्थ्य बना रहता है। यदि 'मै' अत्यन्त सीमित मात्रा में 'दारू' (दवा) मानकर ही ली जाय ! इस सम्बन्ध में फारसी का एक शेर उल्लेखनीय है :—

मै कि बदनाम कुनद अहले खिरदरा गलतस्त ।
बल्कि कि खुद मै शवद अजे सोहबते नादाँ बदनाम !!

अर्थात् यह कहना कि शराब बुद्धिमानों को बदनाम करती है गलत है। सचाई तो यह है कि नादानों की सोहबत से खुद शराब को अपकीर्त्ति मिलती है !

भोजन चार प्रकार के होते हैं—चर्व्य, पेय, लेह्य और चोष्य । चर्व्य अर्थात् चबाकर या कुचल कर खाये जाने वाले पदार्थों—जैसे रोटी, भात, केक, बिस्कुट आदि—की चर्चा हो चुकी है। पेय पदार्थों-—जैसे दूध, मठा (और मै)—का भी उल्लेख हो चुका । लेह्य पदार्थों में, जीभ से चाटी जाने वाली चीजें, जैसे शहद, चटनी आदि की गणना होती है। चोष्य अर्थात् चूसे जाने वाले भोजनों में गन्ना,

सन्तरा, बीजू आम, गुठली समेत आम के अँचार आदि का शुमार है। चर्व्य और पेय के साथ-साथ थोड़ा-बहुत लेह्य और चोष्य रहना ही चाहिये।

जुलाब और वमन के अतिरिक्त मर्दन (मालिश) का भी स्वास्थ्य के लिए महत्त्व है। निम्नांकित संस्कृत-लोकोक्ति माननीय है :—

'मर्दनं वात नाशाय, ज्वर नाशाय रेचनम् !
वमनं पित्त नाशाय,…………………!!

अर्थात्

मालिश वात, वमन पित जावै। रेचन सवै बुखार भगावै॥

खान-पान का वर्णन करते समय सिगरेट की उपेक्षा कर जाना अनुचित होगा, क्योंकि बंगाली भाई 'सिगरेट खाते' हैं, और बहुत से भाई इसे पीते हैं। सचमुच जिस चीज का शुमार खाने और पीने दोनों ही में हो उसका जिक्र न करना एक भारी भूल होगी। सिगरेट और हुक्का के प्रचलन के पूर्व हमारे देश में धूम्र-पान की किसी को जानकारी ही नहीं थी, यह मैं नहीं मानता, क्योंकि महाकवि बाण के तारापीड् 'धूम्र वर्तिका पान' करते पाये जाते हैं। हाँ, तमाखू में धुयें का पान पिछले तीन-चार सौ सालों से हो हो रहा है। अतिशय धूम्रपान निश्चित रूप से स्वास्थ्य के लिये अनिष्टकारक है। फिर भी पीने वालों ने अपने लिये नियम बनाये हैं कि कब सिगरेट पीना और कब नहीं पीना। सिगरेट कब पीना चाहिये :—

खाय के, नहाय के। सोय के, मुँह धोय के॥

और कब नहीं पीना चाहिये :—

भूख में, धूप में। खाट में, बाट में॥

सचमुच रास्ते चलते बीड़ी या सिगरेट पीने वालों के कारण प्रायः अग्नि-कांड हो जाया करते हैं। एक बार चेन-स्मोकर पं० अमरनाथ भार्गव रात में नींद खुलने पर खाट में लेटे ही लेटे सिगरेट पी रहे थे कि लिहाफ में कहीं चिनगी पड़ गई। सबेरे वे अपने बिस्तरे में सोते ही सोते आधे जले पाये गये थे।

० ० ०

आमोद-प्रमोदादि

फारसी वाली उपर्युक्त लोकोक्ति में आहार के अतिरिक्त विहार का भी कुछ संकेत हुआ है। सीधी-सच्ची बात यह है कि मनुष्य के मन और तन में बड़ा गहरा नाता है। जैसे शरीर के नीरोग रहे बिना मन स्वस्थ नहीं रह सकता, उसी प्रकार मन के स्वस्थ रहे बिना तन भी स्वस्थ नहीं रह सकता। भय और चिन्ता मनुष्य के स्वास्थ्य को घुन बन कर चाल डालती हैं। किसी ने ठीक ही कहा है कि चिन्ता उस अनोखी चिता के समान है जिसमें बिना वन और वह्नि के ही (लकड़ी और अग्नि के बिना ही) जीवित-मनुष्य-तन जल-जल कर भस्म हो जाता है। लोकोक्ति है :—

चिन्ता-ज्वाल शरीर में, बन दावा लगि जाय।
प्रगट धुआँ नहिं संचरै, उर अन्तर धुँधुँआय॥
उर अन्तर धुँधुँआय, जरै जिमि काँच की भट्ठी।
रक्त मांस जरि जाय, रहै हड्डिन को ठट्ठी॥

और भय तथा चिन्ता का एक खास कारण ऋण हुआ करता है। इसी से किसी ने कहा है कि :—

आग खाये मुंह जरै।
उधार खाये पेट जरै॥

कर्जदार के उदर को सचमुच ही उधार का खाया हुआ अन्न अत्यन्त अनुदार होकर जलाता रहता है! भय और चिन्ता के कारण प्राणी को कभी भी अच्छी नींद नहीं आती। अच्छी नींद न आने से पाचन ठीक नहीं रहता जिसके कारण स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है :

'मन चंगा तो कठौती में गंगा!'

ठीक ही कहा गया है।

(३)

बड़ी पुरानी कहानी है। एक बार धन्वन्तरि महाराज बड़ी दूर किसी वन में एक विशेष जड़ी की खोज में गये हुये थे। उन्हें पसीने में लथ-पथ बहुत देर से भटकता हुआ देखकर पास ही के एक वृक्ष पर बैठे हुए एक पक्षी ने अपने

स्वाभाविक बोल में, दूसरे वृक्ष की डाल पर बैठे हुए अन्य पक्षी को सुनाकर यों कहा :—

'कोऽरुक् ? कोऽरुक् ? कोऽरुक् ?' अर्थात्, 'कः + अरुक् = कौन नीरोग है ? कौन नीरोग है ? कौन नीरोग है ?'

और दूसरे पक्षी ने भी अपनी स्वाभाविक स्वर-लहरी में उत्तर दिया कि :—

हित भुक्, मित भुक्, सकाल भुक्,
सोऽरुक्, सोऽरुक, सोऽरुक् !
जितेन्द्रियः शतपद-चारी च वामशायीयः,
सोऽरुक्, सोऽरुक्, सोऽरुक् ॥

अर्थात् :

'जो हितकारी भोजन, परिमित मात्रा में, निश्चित समय पर ग्रहण करता है।

वही है अरुक् अर्थात् रोग रहित, वही है रोग रहित, वही है रोग रहित !

और जो जितेन्द्रिय है, तथा भोजनोपरान्त, सौ कदम टहल कर बायें करवट सोया करता है—

'वही है अरुक्, वही है अरुक्, वही है अरुक् !'

गांव और वनों में 'हितभुक्-मितभुक्, हितभुक्-मितभुक्' जैसी आवाज एक-एक दो-दो मिनट तक निकालते रहने वाले पक्षी को लोग हुद-हुद पक्षी के नाम से बहुत दिनों से जानते हैं। पंडुक या पेंडुकी (फाखता) किसी पुराने मकान की धन्नी पर बैठकर या किसी पुराने ठूंठ या बबूल की डाल पर बैठकर, थोड़ी-थोड़ी देर बाद 'कोरुक् कोरुक् कोरुक्' जैसा स्वर अलापती रहती है। पर संस्कृत भाषा की कलात्मकता और गंभीरता को देखिये कि इस जरा-सी बात में कितने बेल-बूटे निकाले हैं, और निरर्थक को भी कितना सार्थक बना दिया है। जड़ को चेतन कर देना यही तो कहलाता है। धन्वन्तरि महाराज ऐसे महान् वैद्य क्यों हो गये थे ? इसका भी रहस्य इस कथानक द्वारा स्पष्ट हो गया है। वे वैद्य ही नहीं (नाड़ी ज्ञान रखने वाले) बड़े भारी जीव-विज्ञान-विशारद (Biologist) भी थे, वनस्पति-शास्त्र-वेत्ता (Botanist)भी और पशु-पक्षियों तक की भाषा समझने वाले जन्तु-विशारद (Zoologist) भी !

० ० ०

'कम खाना, गम खाना'
या
'कम खाना बनारस में रहना'

स्वस्थ रहने का सब से सस्ता नुसखा है ! सचमुच ही जिन्हें कम खाने ग्रौर गम खाने से प्यार है, वे भाग्यवान शरीर से चाहे बाँदा में हों चाहे बूँदी में ; चाहे बूँदा-बाँदी ही में हों, वास्तव में वे तन ग्रौर मन से स्वस्थ बनारस यानी सुख ग्रौर शान्ति एवं शालीनता के स्वर्ग में ही सदा निवास करते हैं। ऐसे ही किसी स्वस्थ मस्ताने बनारसी ने ही तो कहा है कि :—

चना चबेना, गंगजल, जौ पुरवै करतार।
काशी कबहुँ न छाँड़िये, बाबा बीसनाथ दरबार।।

७ : लाल किताब

० ० ०

गोमती-तट पर बसा हुआ उत्तर प्रदेश का सुलतानपुर नगर लखनऊ और फैजाबाद के बाद अवध का तीसरा प्रसिद्ध शहर है। यहाँ से इलाहाबाद (प्रयाग) ६० मील, फैजाबाद (अयोध्या) ३५ मील, लखनऊ ८५ और बाणारसी (या काशी) ६० मील है। पुराने समय में लव के भाई कुश का बसाया हुआ 'कुश भवनपुर' यहीं था, जब राव से रंक तक सबके भवन (या भुवन !) कुश (काँस) ही के बनते थे। आज सुलतानपुर अपने सफेदा खरबूजों, देशी-बंगला पानों, और कसेरुओं के लिये, तथा रामनगर (अमेठी) में महाकवि मलिक मुहम्मद जायसी की मजार, पंडित रामनरेश त्रिपाठी, गोमती के कुंड़वार-घाट रोड पर बसे गंजेहड़ी ग्राम के निवासी अपने 'मजरूह' सुलतानपुरी, स्वर्गीय प्रेम 'अदीब', और जिले की समस्त राजनीतिक पार्टियों के समान रूप से विश्वास-पात्र अपने श्री दरगाही जैसे शाहेदिल और सूफियेदस्त साइकिल मिस्तिरी के लिये आस-पास में ही नहीं काफी दूर तक विख्यात है।

सुलतानपुर से ४६ मील दूर शाहगंज है, और शाहगंज से २२ मील दूर है जौनपुर। जौनपुर भी अपने लाजवाब खरबूजों और भारी भरकम मूलियों के लिये काफी सरनाम है। पुण्यतोया गोमती से सिक्त इस जौनपुर का इतिहास प्राचीनता से बहुत अनुरंजित है। जिस रागिनी जौनपुरी को अतीत की उन शताब्दियों ने एक लोकोत्तर उभार दिया था उसके चपल नूपुरों की थिरकन और मादक स्वरों की गमक जौनपुर अपने सपनों में कुछ-कुछ अब भी सँजोये हुए है। निथर कर फूल उठी बरसाती सन्ध्या में जिस समय नगर के चारों ओर खेतों में मीलों तक पूंजे-के-पूंजे खड़े चमेली-लता-गुल्म पुष्पों से लद उठते हैं उस समय जान पड़ता है कि जौनपुर की आत्मा को सलाम करने आकाश के तारागण धरती पर उतर कर छितरा गये हों। जौनपुरी चमेली के तेल, गुलकन्द तथा बेनीराम हलवाई की इमरती का रस-गंध जिन्होंने पाया है वे ही उस मनमोहिनी का मर्म कुछ समझ सकते हैं।

और जौनपुर से बस ३४ मील दूर है बनारस। दुनिया भर के नगरों का राजा बनारस!

गत सप्ताह जिस दिन जेठ का महीना एक ही दिन बस और शेष था, और मृगशिरा नक्षत्र के २४ घंटे बीत चुके थे, सुलतानपुर से शाहगंज, और शाहगंज से जौनपुर होते बनारस तक बस से १०० मील की मेरी यात्रा हुई। गोमती-सरयू और गोमती-गंगा के काठे का अति उर्बर तथा घनी आबादी वाला यह भूखंड ग्रीष्म ऋतु में प्रचंडतम घाम और लू का अति प्रिय क्रीड़ास्थल बन जाता है। सड़क के दोनों ओर जगह-जगह सघन अमराइयों के बीच बसे गांवों के पास से, दायें-बायें छायादार लखरखों में से होकर निकली हुई सड़कों पर दोपहरी में यात्रा करके उत्तरी भारत के समतल में निदाघ के लावण्य का साक्षात्कार करने के लिये इस बार की छुट्टी में भी मन वैसा ही अधीर था जैसा अधीर उन दिनों हमारी एव-रेस्ट-टीम के तरुणों का मन एवरेस्ट पर चढ़ कर गहन ऊंचाई और सघन शीत के साक्षात्कार के लिये हो रहा था! शाहगंज से जौनपुर की सड़क पर यह मेरी प्रथम यात्रा भी थी।

यों तो उत्तर प्रदेश की प्रायः सभी सड़कों पर रोडवेज की सरकारी बसें चलने लगी हैं, पर शाहगंज-जौनपुर जैसी अब भी कई सड़कें रह गई हैं जिन पर प्राइवेट बसें चलती जा रही हैं। इधर शाहगंज के बाजार में और उधर नवाब यूसुफ रोड पर जौनपुर में, आलेहसन, सिब्तेहैदर, बशीर खां, संकठा प्रसाद

तिवारी या मुन्नन मियाँ जैसे नाम प्रोप्राइटरों के रूप में जिन पर रंजित हैं वे बसें एक कतार में खड़ी रहती हैं, और कभी-कभी चौबीस घंटों में केवल एक बार ट्रिप करने की उनकी पारी आती है। प्रायः उन सभी बसों की 'बौडी' कहीं धंसी और कहीं उभरी हुई थी, पर लाल, हरे, नीले, पीले रंग बहुत गहरे उन पर चढ़ाये गये थे। जानों अधेड़ बेवायें खूब चटकीले कपड़े पहन अपनी शादी की तैयारी में खड़ी हों। एकदम मुझे बड़े मियाँ का शेर : 'जने बेवा मकुन, गरचे हूर अस्त !' (अर्थात् बेवा को औरत मत कहो भले ही वह हूर क्यों न हो) याद हो आया। पर उसी बस में तो बैठना था। बेबस जाकर बैठना पड़ा। बगल में ही बैठे एक हमउम्र मियाँ की ओर मुखातिब हो जब मैंने धीरे से कहा कि : 'सही सलामत जौनपुर यह पहुँच तो जायँगी न ?' उस समय कई चेहरों पर मन्द मुस्कान की एक हलकी-सी फुरफुरी दौड़ गई। वह हजरत भी कम न थे। बोले 'रवाना तो हो जाने दीजिये !' और सचमुच ही दस बजे छूटने वाली वह बस तेल-पानी लेकर जब साढ़े दस बजे रवाना हो सपाटे मारने लगी तो विश्वास हो गया कि 'जने बेवा मकुन' कहकर बड़े मियाँ ने एक तरह से अपने दिल के किसी छिपे जख्म को ही खरोंचा था ; और तभी तो किसी मसखरे ने उनके इस शेर को व्यतिरिक्त करके यहां तक कह ढाला था कि —

राहे रास्त न बरौ, कि खतरहदार अस्त।
जने बेवा कुन, कि तजरबहकार अस्त।।

सच है कि ज्ञात मार्ग पर चलनेवालों के शत्रु भी तो उन्हें वहीं मिलते हैं, किन्तु जो नित नई-नई अज्ञात पगडंडियों से आते-जाते हैं उनके शत्रु उन्हें धोखे से मारने में कभी सफल नहीं होते। अतः यदि आदर्श के रूप में 'राहे रास्त बरौ गरचे दूर अस्त' (अर्थात् सीधे मार्ग पर चलो, भले ही वह दूर हो) का उपदेश ठीक है, तो घोर वास्तविकता की ही दृष्टि से 'राहेरास्त न बरौ कि खतरहदार अस्त' कहना कुछ गलत नहीं है !

लारी शाहगंज से खेतासराय (शायद खोता सराय का अपभ्रंश) और खेतासराय से चलकर एक और जगह रुकी जहां कुछ सवारियां खाजासराय के लिये बैठीं। मगर खाजासराय जब मील-आध मील रह गया था तभी बस ठिठक कर रुक गई। ड्राइवर और कन्डक्टर झट उतरे और आगे के दाहिने चक्के के पास बैठकर खटर-पटर करने लगे। बात साफ हुई कि बस फेल थी। मेरे उस हमउम्र हमराही (सहयात्री) ने व्यंग्य किया। बोले —आपने तो पहले ही शक का

इजहार किया था। मगर मुझे तो अमीर मीनाई का वह शेर याद आ रहा था कि :—

इस सरा में मैं मुसाफिर नहीं रहने आया।
रह गया थक के अगर आज तो कल जाऊंगा ।।

लेकिन जब काफी समय निकल गया, और बस सुधरती न आई तब कुछ उलझन होने लगी। समय बारह के ऊपर हो चला था। बाहर निकल आया। कोई गाँव-गिराँव कहीं दिखाई नहीं दे रहा था। आस-पास कोई वृक्ष भी न था। उस ऊसर पटपर विस्तृत मैदान का सूनापन देख यह खयाल उठा कि शायद खेतासराय से खाजासराय तक पुराने वक्त में यात्रा घोड़े से नहीं बल्कि खोते (यानी खच्चर) से की जाती रही होगी और शायद तभी उस सराय में खोतों (खच्चरों) की ही व्यवस्था होने से वह सराय खोतासराय कही जाती रही होगी। बाद में खोतासराय का खेतासराय हो गया होगा। उस समय लू के थपेड़े कान और गले में लपेटे मोटे 'दुशाल' को झकझोरे डालते थे। तभी उस बेहड़ निर्जल, छायाहीन सड़कपर सामने से आ रहे कुछ लोग दिखे। उस गोल में कोई एक कुछ गा रहा था और दो-तीन ताल दे रहे थे। वे बस के पास पहुँचे तो गाना बन्द हो गया। क्षणभर के लिये वे सब रुके; कुछ झांक-झूंक हुई; और फिर वे अपने शिर को गमछे से बांधे, और पीठ पर 'ताशा' (या धौंसा) लादे एकदम पांव नंगे अपने पथ पर चल खड़े हुए। वे कुछ ही दूर गये थे कि कानों में एक सुरीली टीप यह आई :—

हमार खटिया हो, हमार खटिया !
अपने हथवां बिछावैं ऊ हमार खटिया !
राजा बड़े रसिया !!

ऐसी आग बरसाती प्रचंड लू में जलभुन कर भी रात में बिछने वाली सेज़ की सरस शीतलता के गीत गा रहे उन धरती-पुत्रों की अवस्था और मस्ती देखकर विश्वास हो गया कि जायसी जी के प्रसिद्ध उल्लेख 'तपनि मृगसिरा जे सहई, ते अदरा पलुहन्त' के अनुसार आर्द्रा की लहलही के सच्चे अधिकारी ये ही तो हैं क्योंकि मृगशिरा की दारुण तपन को हंस-हंस कर झेल लेने के लिए सामने ये ही आते हैं। एक बात और। निदाघ के पूर्ण सौंदर्य को देख सकने की ज्योति भी इन्हीं आँखों में है !

कोई पौने एक बजे थे जब शाहगंज से १२ बजे छूटने वाली दूसरी बस आती दिखाई पड़ी । मेरे हमराही ने कहा कि दिक्कत तो बहुत होगी 'पर इस बस में सवार हो ही जाना चाहिये । अमीर का दूसरा शेर बड़ा मौजूं जान पड़ा—

लाख दुनिया में फंसूं,
चाल वह चल जाऊंगा ।
कि मैं इस भूल-भूलैयां,
से निकल जाऊंगा ॥

शाहगंज में बस पर बैठते ही मैं जब किराए के पैसे भर रहा था, कान में एक आवाज आई थी कि 'अभी जल्दी क्या है ?' फिर भी मैंने पैसे भर दिए थे । कन्डक्टर के यह कहने पर कि 'टिकट अभी बनाकर दे देंगे' मैं आश्वस्त बैठा भी रहा था, पर अब जब बस आ गई थी, और एक भूचाल-सा उठ खड़ा हुआ था तब मेरे टिकट-टिकट कहने को सुनने वाला कोई न था । उस सुनी को अनसुनी कर देने का उस क्षण मन में बहुत क्षोभ हुआ । मेरी उलझन देख मेरे घंटा भर के उस हंसोड़ हमराही ने कहा 'जनाब ! वह तो लाल किताब में दर्ज हो चुका । जल्दी उठिये वर्ना···।' लाल किताब में कैसे क्या कुछ दर्ज हो चुका मेरी समझ में बिल्कुल नहीं आया । पर थोड़ी ही देर बाद सब समझ में आ गया । खूब कचूमर निकल जाने पर किसी तरह दाखिल हो पाए थे कि बस रवाना हो गई । बस में अन्दर एक जगह लिखा था—'अपने सामान की हिफाजत खुद कीजिए !' मेरा कहना था कि उसके आगे इतना और दर्ज होना था—'और आपके शरीर का खुदा हाफिज है !!' जौनपुर जाने के लिये जितने लोग इस पर सवार हुये थे उन सब से कन्डक्टर महोदय किराया उगाहने लगे । जिनके पास टिकट नहीं था वे बारह आने देंगे, और जिनके पास जौनपुर तक का टिकट था वे खाजासराय से जौनपुर तक का आठ आना किराया देंगे । यह तो बड़ी ज्यादती थी । मेरी स्थिति और भी नाजुक थी । पैसा देने पर भी पास में टिकट न रहने के कारण मैं तो खुदा और विसाले सनम दोनों ही से दूर किसी ओर का नहीं रहा था । अपने और दूसरे के लिए मेरी बहस सफाई का परिणाम यह निकला कि दूसरे लोग भी पैसा निकालने में आना-कानी करने लगे । तब बस के बाहर निकले, तो फूंक दो तो हवा में जो उड़ जाये ऐसा दुबला-पतला मरियल, किन्तु बस के अन्दर सिकन्दर बना वह कन्डक्टर ललकार कर बोला—'बस रोक दो जी, ये लोग किराया नाहीं देते हैं ।' बस रुक गई ।

'जो किराया नाहीं देता है उसको उतार दो बस में से !' ड्राइवर साहेब का आर्डर हुआ। मेरे हम राही ने कान में चुपके से कहा—'अब चुका दीजिये बारह आने ! लाल किताब की तहरीर को तो तसलीम करना ही पड़ेगा ।' जहन्नुम में जाय तुम्हारी लाल किताब, मैंने मन-ही-मन कहा । कल्पना में जौनपुरी इमरती का स्वाद उस क्षण जबान पर एकदम फीका पड़ गया । मैंने चुपचाप पैसे चुका दिए । पर और लोगों ने कहा—'यह तो सरासर धांधली है, जिसकी लाठी उसकी भैंस है।' और मेरे उस हँसोड़ हम राही ने कहा—'यही लाल किताब है !'

और जब सब कुछ फिर एक बार थिरा गया और बस चलने लगी तो मेरे उस जिन्दा दिल हमराही ने 'लाल किताब' का मनोरंजक बयान शुरू किया। उसका कहना था कि पुराने जमाने में जब आज जैसी अदालत-कचहरी नहीं थी, मुल्क का न्याय और फैसले का सारा काम काजियों के ही हाथ में था, और हर काजी के यहाँ 'खारुआ' (लाल मोटिया कपड़ा जो महाजनी बहियों के पुट्ठे में लगता है) के जिल्द की नजीरों वाली एक किताब होती जिसे 'लाल किताब' कहते थे । 'काजी जी दुबले क्यों ? शहर के अंदेशे से ! यह कहावत तो मुझे भी ज्ञात थी, और यह बात भी मैं जानता था कि वे सभी काजी दुबले होते थे, क्योंकि तब मोटापन काजी होने में सबसे बड़ा 'डिसक्वालिफिकेशन' था । यही कारण था कि पुराने जमाने में मोटा आदमी और चाहे जो कुछ हो जाता रहा हो, काजी तो वह सात जनम में भी नहीं हो सकता था । पुराने समय के हमारे प्रशासकों में बड़ी तगड़ी पुरमजाकियत (सेन्स आफ ह्यूमर) थी । पतले लोगों के हाथों मोटे लोगों की गरदन नपवाने में उन्हें खास मजा आता था । मुझे यह सब तो मालूम था, पर लाल किताब का रहस्य एकदम अज्ञात था । मेरे हमराही का कहना था कि जो भी मामला काजी जी के सामने आये उसकी नजीर लाल किताब में निकलनी ही चाहिये । और नहीं ही हो तो भी वह काजी कैसा कि लाल किताब हाथ में लेते ही मुनासिब नजीर निकल न आवे । उदाहरणार्थ एक ऐसे ही काजी ने अपने रब्बे (दो बैलों से खींची जाने वाली पालकी गाड़ी) के लिये एक बैल (उनके वजन के लिये एक ही काफी था) पाल रखा था । बैल सवारी में ऐसे ही कभी जुतता था । दिन भर छुट्टा सब के खेत चर-चर कर साँड़ हो गया था । उस कस्बे में बैल का शौकीन एक तेली भी था जिसके पास एक बड़ा हट्टा-कट्टा बैल था, संयोग से एक दिन तेली का बैल छूट कर बाहर चला गया, तो दोनों बैलों की मुठभेड़ हो गई । एक बैल ने दूसरे के पेट में सींगें अड़ा

कर ठेला तो सींगें धंस गईं, और झटक दिया तो आँतें बाहर ! कस्बे भर में हल्ला हो गया कि तेली के बैल को काजी के बैल ने मार डाला ! बात काजी के कान में भी पड़ी तो वे मुस्करा कर रह गये। पर जब विजयी बैल हँकड़ता हुआ तेली के खूंटे पर पहुँचा तब हल्ला हुआ कि तेली के बैल ने काजी के बैल को मार डाला ! वह सुनते ही काजी ने पगड़ी शिर पर बांध ली। तेली, उसका बैल और चश्मदीद गवाह हाजिर किये गये। अदालत बैठ गई। कायदे के अनुसार लाल किताब का फैसला तेली को भी तसलीम था। सब कुछ सुनने के बाद लाल किताब के पन्ने उलट-पुलट कर काजी ने एक जगह निगाह गड़ाई और निम्न तहरीर पढ़ सुनाई :—

लाल किताब में निकला यों,
तेली ने बैल लड़ाया क्यों?
खिला-पिला कर कर दिया सांड,
बैल-के-बैल पचास रुपये डांड !

और बैल तुरन्त काजी के खूंटे में बांध दिया गया। और तेली को शामो-शाम पचास रुपये सरकारी तहवील में जमा करने पड़े।

मैं अपने उस हमराही की बात एकदम अवाक् सुनता रहा, और तभी मेरी यह पक्की धारणा हो गई कि 'रेड टेप' या 'लाल फीता' अंगरेज शासकों की मौलिक सूझ न थी, वरन् यह भारत की इन काजियों की ही देन है ! मैंने अपने उस हमराही से कहा कि 'वे काजी जी शायद खाजासराय में ही रहते थे।' उसे मालूम हो चुका था कि मैं बनारस जिले का रहने वाला हूँ, अतः उसने छूटते ही कहा—'जी नहीं, वे काजी सराय के रहने वाले थे !' और दूसरे दिन जब मैं बस से बनारस जा रहा था और काजी सराय के पास से गुजरा तो यह देख कर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि जिस काजी की कब्र की ईंटें तक धूल हो चुकी थीं, उसकी मरम्मत हो गई है और वह लकलका रही है ! और तभी मुझे अपने हमराही की कही हुई अन्तिम बात याद आई और मेरा उस पर एक दम विश्वास हो गया। लाल किताब वाले काजी की दिलचस्प कहानी सुनकर बस में जब एक साहब ने कहा था कि 'इसी को तो अंधेर खाता या चित भी मेरी, पुट भी मेरी, और अंटी मेरे बाप की, कहते हैं,' तब उसने जवाब दिया था कि 'आप चाहें जो कहें, यह काजीशाही या लाल किताबियत मुल्क में अब फिर से शुरू हो गई है, और पतले आदमी मोटे आदमियों की गरदन नाप रहे हैं, और नापते रहेंगे। लाल किताब के पन्ने भी आप जहीं देखिये तहीं खुले हुए हैं ?'

●

८ : सुबहे-बनारस

० ० ०

कभी यह मसल बहुतमशहूर थी, कि—'सुबहे-बंगाल, शामे अवध, व शबे-मालवा' अर्थात् बंगाल का सवेरा, अवध की शाम, और मालवे की रात बहुत ही आकर्षणमयी होती है। परन्तु कुछ जानकारों का कहना है, कि अनारकली वाले शहजादे सलीम को (जो सम्राट जहांगीर, नूरजहां वाले मशहूर हैं) बनारस का सवेरा बेहद दिलकश था। और मालवे की अपेक्षा बुन्देलखंड से उनकी उन्सियत ज्यादा थी। तभी से 'सुबहे-बनारस, शामे लखनऊ व शबे-बुन्देलखंड' की प्रसिद्धि हो गयी। वैसे तो शामे-बनारस और शबे-बनारस का हुस्न भी अनोखा है, और शाम और रात ही क्यों, उसकी तो जेठ-बैसाखी चिलचिलाती दुपहरिया का भी एक गजब का सलोना लावण्य है, जिसका पता केवल उन लोगों को है, जो 'फालसे' या 'कसेरू' और कभी-कभी 'शहतूत' या 'रसभरी' की 'दूधिया' (भंग) छानने की तैयारी इस दुपहरिया में ही शुरू कर देते हैं। या बाहर से काशी आने वाले उन लोगों को भी इस लावण्य का कुछ आभास मिल ही जाता है,

जिनके कानों में, काशी की गलियों में से दुपहरिया में गुजरते समय एकाध बार किसी न किसी ओर से यह धुन पड़ ही जाती है, कि :

चार महीना गरमी कै दिनवां,
टुप-टुप चुवै पसीना बलम ! रस-बेनियां डोलायजा रे !
हमरी झुलनियां की छैयां बलम ! दुपहरिया छहांय जा रे !!

पर सुबहे-बनारस की अदा सबसे निराली है। दो बजे रात में 'फुलवा बिनत डार-डार !' अथवा 'जोवना कै सब रस ले गइलो भंवरा !—हाय राम ! गूंजी रे गूंजी !' जैसे सोहनी (रागिनी) के गमगम गमक रहे बोलों, और 'बारे बलम फुलंगेनवा न मारो मैंका लगत करेजवा में चोट !' जैसी भैरवी की थिरक रही तानों के बीच बनारसी रातरूपी गन्धर्व-सभा (महफिल !) की पूर्णाहुति होते ही, भूतेश्वर महाकाल काशीपति विश्वनाथ के स्थान की घड़ी के आगमन की तैयारी में बज रहे अनेक मन्दिर के घड़ी-घंटों और शंख-नगाड़ों की घम-घम घनन-घनन घनकारों के बीच काशी के अनिर्वचनीय अलौकिक शानदार सवेरे का समारंभ हो जाता है। जो गंगा तट के सन्निकट हैं, उनके कानों में शिव के स्नानार्थ पावन गंगाजल ले जाते हुए मन्दिर के पुजारियों के 'हर-हर महादेव शंभो ! काशी विश्वनाथ गंगे' की सर्वप्रथम आनेवाली धुन देर तक गूंजती रहती है। और जो दूर, अभी बिस्तरों में ही हैं, वे उस समय उठ रही मन्दिर की घनकार से जगाये जा चुके हैं, उनके कान भी, सवेरा होते ही स्नानार्थ गांवों से आयी हुई ग्राम-बधूटियों के 'काशी विश्वनाथ मन्दिरवा, सोनवा चमचम चमकै ना !' जैसे यूथ-गान (कोरस) की धुन सुनने के लिए कुलबुलाने लगते हैं।

०००

आप जब बनारस कैंट-टेसन से चलकर लहुराबीर की चौमुहानी पर पहुंचेंगे, तो सीधे चले जाने पर मैदागिन (मन्दाकिनि) की चौमुहानी मिलेगी। किन्तु यदि दाहिने हाथ मुड़कर चेतगंज वाली सड़क पकड़ेंगे तो गोदौलिया (गोधूलिका) की चौमुहानी मिलेगी। आप वहां से सीधे दशाश्वमेध घाट जायंगे, किन्तु वहां से दाहिनी ओर फूटी हुई सड़क को पकड़ें, तो वहां से विश्वविद्यालय तक अपनी बायीं ओर से फूटी बीसों गलियों में से होकर दशाश्वमेध घाट से लेकर अस्सी घाट तक के बीच स्थित क्रमशः शीतला, अहिल्याबाई, मुंशी, राना, चौसट्ठी देवी, पांड़े, अन्नपूर्णा, दुबे, अमृतराव, नारद, मानसरोवर, सोमेश्वर, चौका-घाट, केदार,

लल्ली, विजयानगरम्, हरिश्चन्द्र, हनुमान, दण्डी, शिवाला या चेतसिंह, वत्सराज, जानकी, तुलसी, बाजीराव और रत्नामिश्र इन पच्चीस (दशाश्वमेध और अस्सी को मिलाकर २७) घाटों में से आप किसी घाट पर उतर सकते हैं। इन घाटों में छह घाट—केदार घाट, हरिश्चन्द्र घाट, हनुमान घाट, शिवाला घाट, तुलसी घाट और अस्सी घाट बहुत महत्त्व रखते हैं। केदार घाट पर स्थित केदार जी का मन्दिर बंगाली-भाइयों के लिये बड़ा प्रिय है। यों तो अस्सी और राज घाट के बीच चौसठों घाटों में अस्सी से आरम्भ कर क्रमशः राज घाट और राजघाट से अस्सी तक प्रतिदिन एक नए घाट पर स्नान करने वाले इक्के-दुक्के अजूबे स्नानार्थी अब भी काशी में होंगे ही, किन्तु स्नानार्थियों के प्रिय जो कुछ चुने हुए घाट हैं, उनमें केदार घाट का स्थान प्रमुख है। हरिश्चन्द्र घाट राजा हरिश्चन्द्र की पावन स्मृति संजो रखने के कारण प्रसिद्ध है। हनुमान घाट पर ही महाप्रभू वल्लभाचार्य काशी में रहे थे और यहीं उनका गोलोक वास हुआ था। शिवाला घाट पर सातवीं-सदी ईसा पूर्व के कपिल मुनि रहा करते थे! तुलसी घाट महात्मा तुलसी दास को पुण्य-स्मृति से वन्दनीय है, और अस्सी घाट अस्सी (नदी) और गङ्गा के संगम पर स्थित होने से काशो के पंच-तीर्थों में से एक है।

मैदागिन की चौमुहानी पर पहुंच कर भी आप या तो सीधे विश्वेश्वरगंज होते काशी (राजघाट स्टेशन) वाली सड़क पकड़ सकते हैं, या दाहिनी ओर मुड़नेवाली सड़क पकड़ कर चौक पहुँचने पर बायीं ओर से बदलराम लक्ष्मीनारायण की पान-सुरतीवाली प्रसिद्ध दूकान के पास से होते कचौड़ी गली में उस जगह से बायें मुड़कर, जहाँ कभी कोने में उस्ताद रामप्रसाद चित्रकार बैठा करते थे, मणिकर्णिका घाट पहुँच जाते हैं। किन्तु बिना बायें मुड़े सीधे चलते जायं, तो अपनी दाहिनी ओर काशी करवट, और कुछ आगे सरस्वती फाटक को (जहां से दाहिनी ओर जानेवाली गली विश्वनाथ और अन्नपूर्णा के मन्दिर में पहुँचा देती है) पार करते, आप गोदौलिया तक बायीं ओर दस-बारह गलियों में से होकर, मणिकर्णिका और दशाश्वमेध के बीच स्थित (इन दोनों को मिला कर) दस घाटों में से किसी एकपर पहुंच सकते हैं। इन घाटों के नाम हैं, क्रमशः जलसाई घाट, घोड़ा घाट, जयसिंह घाट, राजसिद्धेश्वर घाट, ललिता घाट, मीर घाट, त्रिपुरा भैरवी घाट, मान मन्दिर घाट और दशाश्मेघ घाट। इन घाटों में मानमन्दिर घाट और जलसाई घाट मेरे लिए अविस्मरणीय हैं। इसी मानमन्दिर घाट से १३ वर्ष की अवस्था में सन् १९२६ ई० में जब मैं आठवीं कक्षा का विद्यार्थी था, कई

लोगों के साथ गंगादशहरा के दिन तैरकर गंगा के उस पार और बिना रुके उस पार से वापस इस पार आया था। और जलसाई घाट ? वही जहाँ अपना अपना समय पूरा कर मेरे नाना, मेरी नानी, मेरे आजा आदि तो लाखों-करोड़ों नर-नारियों की तरह पहुँचे ही थे, बाद में मेरे पिता भी सन् १९१५ में पहुँचे, किन्तु बहुतों को जलसाई घाट जाने का अभिशाप (मेरे लिए आशीर्वाद) देकर भी मेरी माता सन् १९३६ में स्वयं जहाँ नहीं पहुँच पायीं, और जहाँ मैं भी अपने समय पर शायद ही पहुँच पाऊँगा।

० ० ०

और मैदागिन से चौक तक बायीं ओर की बुलानाला और ठठेरी बाजार या कुंज-गली के बीच बायीं ओर पड़ने वाली कई गलियों से होकर आप पंचगंगा और मणिकर्णिका के बीच बारह (मणिकर्णिका और पंचगंगा को मिला कर चौदह) घाटों में से किसी एक तक पहुँच सकते हैं। और मैदागिन की चौमुहानी से सीधे राजघाट तक जायेंगे, तब विश्वेश्वरगंज से दाहिनी ओर फूटने वाली भैरवनाथ की गली, और आगे से दाहिनी ओर फूटी राजमंदिर वाली गली तथा मछोदरी पार्क (मत्स्योद्री) से दाहिनी ओर गाय घाट जानेवाली गली, तथा तेलिया नारा से दाहिनी ओर गयी हुई गली और काशी स्टेशन से दाहिने गंगा तट पर गयी हुई गली में से आप पंचगंगा घाट से राजघाट के बीच (इन दोनों को मिला कर) सोलह घाटों में से किसी एक तक पहुँच सकते हैं।

मणिकर्णिका और राजघाट के बीच के अट्ठाईस और इन दोनों को मिला कर निम्नांकित तीस घाट हैं; मणिकर्णिका, दत्ताराम, गंगामहल, सिन्धिया, संकठा, भोंसला, अग्नेश्वर, गणेश, राम घाट (जहां पहले रायकृष्णदास की कोठी थी), तारामन्दिर, बाजीराव (दूसरा घाट), चोर, लक्ष्मण, पंचगंगा (यहीं प्रसिद्ध माधवराव का प्रसिद्ध धौरहरा है), दुर्गा, ब्रह्मा, राज मन्दिर बूंदी-परकोटा, शीतला, लाल, गाय, नारायण, महता, बदरीनाथ, त्रिलोचन, नया प्रह्लाद, गोल और राज घाट।

ऐसे तो गंगा में लोग दोपहर में और शाम को भी स्नान करते ही हैं, और विशेष पर्वों पर भीड़-भाड़ के अवसर पर रात में भी स्नान चलता है। किन्तु जो सुषमा और अह्लाद गंगा-तट पर प्रातःकाल उपलब्ध होता है, वह कभी और नहीं मिलता। काशी के इन चौंसठ घाटों तक स्नानार्थ एकदम तड़के इन पथों और वीथियों में से जल्दी-जल्दी जा रहे लोगों को देख कर कल्पना होती है,

कि मानों किसी विराट नगर के नर-नारी किसी आणविक बम के विस्फोट पर उसके जहर से बचने के लिए उनके ही रक्षार्थ बनायी हुई किसी विशाल सुरंग के इसी वास्ते खुले रखे हुए हजारों छिद्रों में जल्द से जल्द समा जाने की इच्छा से उतावले हो भागे चले जा रहे हों ! अथवा मानो महावन में आग लगी हो और हजारों-लाखों पक्षी किसी विराट महल के हजारों रोशनदानों में घुसे जा रहे हो ! सच-सच ; काशी के नीलकंठेश्वर की गंगा दुखदारिद्रय से संतप्त सँसार के ऐसे ही लक्ष-लक्ष संतप्त और झुलसे लोगों को शीतलता का मरहम देने के लिए अगाध, अनन्त, अनवरत उन्मुक्त बह रही है ! बाबा तुलसीदास के स्वर में स्वर भरने के लिए तभी तो मैं भी यही आप से कहता हूँ कि :

जनम मुक्ति महि जान, ज्ञात खानि अघहानिकर ।
जंह बस संभु भवानि, सो कासी सेइअ कस न ?

जैसे कमल का विकास प्रातःकाल में ही होता है, और जैसे हल्दी का रंग चूने का संयोग पाकर ही खिलता है, वैसे ही बनारसी रंग अपना चटकीलापन शाम और रात में नहीं, वरन् सबेरे में ही—गंगातट पर—पकड़ता है, और गंगा भी अपनी सारी मंजुलता काशी-क्षेत्र का संयोग पाकर ही प्राप्त करती है । तभी तो शंकराचार्य जैसे वीतराग ने भी कह ही डाला, कि 'काशी प्रान्त विहारिणी विजयते गंगा, मनोहारिणी ।' अकेली गंगा के ही नहीं, काशी में आकर बाबा के भी और मैया के व्यक्तित्व में भी चार चांद लगे हैं ! ससुराल (कैलास) में बाबा के कई गुन जो दबे थे, काशी में आकर उजागिर हुए हैं ! यही कारण है, कि ये काशी में ऐसे चिमटा गाड़कर जग गये हैं, कि कैलास में चाहे विदेशियों का ही झंडा क्यों न गड़ जाये, ये काशी से हटने-बढ़ने का नाम ही नहीं लेते । काशी में ही बाबा को गौरी और गंगा के बीच सापत्न्य-सम्बन्ध (सौत का नाता) पैदा करने का भी मौका मिला है; और स्कन्दपुराण के प्रणेता के शब्दों में 'गंगाधरो रक्षतु मा निशीथे, गौरीपतिः पातु निशावसाने' के अनुसार रात का श्रेय गंगा को, और दिन का श्रेय गौरी को होने के कारण निशीथान्त यानी बड़े भिनुसारे अपने अधिकार की घड़ियों का अन्त होते-होते गंगा मैया अपनी समस्त मंजुलता 'स्वर्गारोहण वैजयन्ति' सदृश अपनी लहरों में भरकर, अपने गंगाधर के चरणों में अर्पित कर देने के लिए अपने तट पर उंडेल देती हैं, जिसे चुगने के लिए पशु-पक्षियों से लेकर पंडित, संन्यासी, गृहस्थ, बालक-वृद्ध, नर-नारी, सिद्धांगना, वारांगना, सदासुहागिनों तक के मानस-हंस अपने-अपने स्वरों और बोलियों में किलकते-कूजते गंगा की सीढ़ियों पर उमड़ पड़ते हैं । उनके स्वरों की पहचान कभी तो

'त्वत्तीरे तरुकोटरांतरगतो गंगे विहंगो वरं। त्वन्नीरे नरकान्त कारिणिवरं मत्स्योथवा कच्छपः !' आदि शब्दों द्वारा गंगा-स्नान-समय अपने मनोरथ प्रकट करने वाले किसी वाल्मीकि की याद आती है; और कभी, 'मज्जन्मा तंग कुंभ च्युत मद मदिरा मोद मत्तालिजालं, स्नानै सिद्धांगनानां कुचयुग विगलत्कुंकुमा संग-पिंगम्'' आदि स्वरों में निहित अपने उल्लास को प्रकट करते हुए किसी शंकराचार्य की याद आती है। कभी, 'नमस्तेऽस्तुगंगे त्वदगं प्रसंगाद्भुजंगास्तुरंगा : कुरंगा : प्लवंगाः —अनंगारिरंगा : ससंगाः शिषांगा भुजंगाधिपांगी कृतांगा भवन्ति !' की स्तुति के साथ गंगा-स्नान करते किसी कालिदास को, और कभी, जय-जय भगीरथ नन्दिनि, मुनि-चय-चकोर-चन्दिनि, नर-नाग विबुध बन्दिनी, जय जह्नु बालिका', आदि से गंगा की जयकार के साथ डुबकी लगाते किसी तुलसीदास को याद आती है। सामान्य जन 'गंगाजी की धारा, पाप काटबे को आरा', 'गंगा-गंगा जे नर कहैं—नंगे-भूखे कभी न रहैं' आदि कह कर डुबकी लगाते हैं और कभी-कभी किसी के मुंह से प्रसिद्ध ख्याल (लावनी) की कड़ी, 'सागर की गिनी जायं लहर गिने जायं तारे—नहीं जायं गिने श्री गंगाजी के तारे !' सुनकर 'अरबी पढ़े न पारसी, सबके चाचा बनारसी' ख्याल-बाज की याद आ ही जाती है।

० ० ०

मुंह अंधेरे घर से निकले लोग गंगा-स्नान करके चले-चलें तब तक 'काशी पुराधीश्वरी माता अन्नपूर्णेश्वरी' की अमलदारी आरम्भ हो गयी रहती है। पाँच मन गाय के दूध से बाबा का स्नान हो चुका रहता है, और उनके मन्दिर में दूध की धारा बह रही होती है। माता के प्रबन्ध में कहीं भी कमी नहीं। चारों ओर मन्दिरों में नौबतें बज रही हैं, घन-घन घंटा घहरा रहे हैं, चम्पा, चमेली, मोगरा, जूही के फूलों की सुगन्ध से गली-गली मह-मह महक रही है। घी के दीपक जल रहे हैं, धूप की गन्ध मंडरा रही है, कपूर की आरती सजी है। चारों ओर चहल-पहल है। मिठाई की दूकानों में मिठाइयाँ, सरदारों की दूकानों में दही की अथरियाँ और बासुन्दी के थाल सजे हैं। सब्जी मंडी में एक अलग ही दुनिया बस गयी है। फसल की समस्त भाजियों और फलों ,और मेवों के अम्बार लगे हैं। सबमें सबेरे की ताजगी है, सरसब्जी है, रंगीनी और खुशबू है। सुबहे-बनारस है कि कोई मामूली बात है ! चुरिहारों, बिसातखानों, सराफों, बनारसी साड़ी वालों की दूकानों में सम्पत्ति और सुगन्ध की लौ जगर-मगर हो रही है। विश्वनाथ की गली की इस सम्पन्नता और सुषमा के आगे आंखें बिछली पड़ रही हैं। यह माता

का साम्राज्य है ! उधर देखो कौन आ रहा है ? मैया के दरबार में हाथों में भिक्षापात्र लिये यह तो स्वयं त्रिलोकीनाथ खड़े-खड़े 'भिक्षां देहि च पार्वती' पुकार रहे हैं !

अरे ! यह तुम कौन इस तरह घबराये-घबराये बदहवास दिख रहे हो भाई ? तुम्हारी जेब कट गयी ! चलो सस्ते छूट गये । अरे यार ! बाबा के मन्दिर में दर्शन कर मस्ती का आलम संग लिये मैया के दरबार में आ घंटा बजा मैंने कृतज्ञता के भावों में डूबकर उनके चरणों में मस्तक नवाया ही था, कि तब तक मेरी जनम-जनम के ज्ञान की अभिमान की गठरी ही कट गयी ! लुट जाने दो गठरी भाई, हलके हो जाओगे ! तुम यहाँ 'मनीबेग' लेकर आये क्यों थे भोले ! बाबा तो त्रिलोकीनाथ होकर भी एक लँगोटी लगाकर मानो कहते रहते हैं कि इन्सान की बस इतने से भी बसर हो सकती है । संसार भर का पेट भरने के लिए माँ अन्नपूर्णा का भंडार खुला हुआ है। सुबहे बनारस का यह रंग मेरे तन और मन को रंग गया ! तुम भी इस सुबह के उजाले और सुगन्ध को जीवन में संभाल कर रख लो । इससे अपनी जिन्दगी को प्रकाशित और सुगन्धित करो । यह सुबहे बनारस जो है ! !

९ : शाहों में शंकर

० ० ०

२५ नवम्बर, १९५७ ई० को सागर विश्वविद्यालय के ग्यारहवें दीक्षान्त-समारोह में जिस समय उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री डा० सम्पूर्णानन्दजी का अभिभाषण समाप्त हो रहा था, प्रयाग के प्रसिद्ध दैनिक पत्र 'लीडर' में मैंने पढ़ा कि २२ नवम्बर को तीसरे पहर काशी में श्री सीताराम शाहजी का उनकी कमच्छा वाली कोठी में स्वर्गवास हो गया। मेरा मन भारी हो उठा। २७ वर्ष पूर्व शाहजी का सत्संग कुछ घंटों के लिए मुझे प्राप्त हुआ था। अतः 'लीडर' की उन पंक्तियों को पढ़ते ही प्रातः ८ बजे से १० बजे तक की वह बेला स्मृति-पटल पर एक बार नाच गई, और एक-एक कर उस दिन की सारी बातें याद आने लगीं।

बनारस के तीन रईस घराने

काशी में रईसी का झंडा अग्रवाल-समाज के जिन परिवारों के प्रताप से आकाश में बहुत ऊँचा लहराया था उनमें तीन चौधुरी घराना, शाह घराना और राय घराना —बहुत प्रसिद्ध हैं। चौधुरी घराने में ही चौधुरी हरिश्चन्द्र (भारतेन्दु) हुए थे जो पंडित प्रतापनारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहनसिंह आदि अपने मेहमानों के लिये इत्र का दीपक जलवाते थे, और साहित्य और सत्संग की आराधना में जब पानी की तरह सम्पत्ति बहाने लगे थे तो श्रीमन्त काशी नरेश को संकेत करना पड़ा था जिसके उत्तर में आपने कहा था 'महाराज ! इसने मेरे पिता, पिता के पिता और उनके भी पिता सबको खा डाला है । अब इसे मैं समाप्त करके ही छोड़ूंगा !' राय-घराने में राय नरसिंह दास और राय लल्लनजी छक्कनजी से लेकर राय कृष्णदास, राय कृष्णाजी और राय गोविन्दचन्द तक राय घराने की आन-बान-शान अब तक बहुत-कुछ बनी ही हुई है। और शाह घराना ! शाह-घराना भी अपना बड़ा ही भव्य महत्त्व रखता है । इसी शाह घराने की एक शाखा आज भी 'झक्कड़ खानदान'[1] के नाम से प्रसिद्ध है। इस उपाधि का अर्जन करने वाले शाह माधोजी हुए थे या उनके सहोदर शाह बीसूजी जो अपनी अपार धन-राशि को तराजू पर तौलवाकर कई दिनों तक छत पर धूप में सूखने के लिए डलवा देते थे, और जब 'सीलन' दूर हो जाती थी, तभी तहखानों में उसे फिर बन्द कराते थे !

हमारे सीतारामजी शाह-घराने के ही रत्न थे। मैंने जिस समय शाह सीतारामजी का दर्शन किया था। उनके दाहिने पार्श्व में सीकड़ से बंधा एक व्याघ्र-शावक बैठा था । काषाय कौशेय का मुकटा और उसी रंग का उपर्णा धारण किये, त्रिपुंडधारी, चौड़े ललाट और भस्मलिप्त विशाल भुजाओं वाले, प्रशस्त वक्षस्थल पर होकर नाभि देश तक लहरा रही सितासित (या गंगा-जमुनी) दाढ़ीयुक्त सुखासन से बैठे वे महापुरुष उस समय ऐसे लगे जैसे साक्षात् शंकर हों ! शाहों में शंकर कहकर मैंने मन ही मन उन्हें प्रणाम कहा था। व्याघ्र-शावक को मेरा विस्मय के साथ निरखना देखकर शाहजी ने बतलाया था कि वे दस वर्ष तक काश्मीर नरेश महाराज प्रतापसिंहजी के यहाँ रहे थे । महाराज प्रतापसिंहजी बड़े प्रसिद्ध शिवोपासक और शिकारी रहे थे । शाहजी के व्याघ्र-शावक-पालन अथवा शिकार और शिव-सारूप्य का रहस्य मेरी समझ में यही था।

---

[1] देखिए परिशिष्ट (क), (ख), (ग) और (घ)।

प्रेरणा के स्रोत

उन दोनों घंटों में ही मुझे मालूम हो गया कि वे कैसे मृदुभाषी और अप्रतिम सुवार्तालापी (Conversationalist) थे। अपने संबंध में उन्होंने अपने काश्मीर प्रवास का जरा-सा उल्लेख-भर किया था, शेष सभी बातें पिता, बड़े भ्राता और गुरु के ही संबंध में रहीं। प्रथम बार के ही परिचय में अत्यन्त अपनत्व से भरी एक बात कहकर उन्होंने मुझे सदा-सर्वदा के लिए अपना उपासक बना लिया था। उन्होंने कहा था—'भाई ! बी० ए०, एम० ए०, होकर तहसीलदार और डिप्टी कलेक्टर मत बनना। अध्यापक बनकर ही अपना पढ़ना-लिखना सफल करना !' मैं चाहता तो तहसीलदार और डिप्टी कलेक्टर बन ही जाता, यह कहना एक बड़े बदजायके की बात होगी, पर यह कहने में मुझे कोई झिझक नहीं कि अपने जीवन-व्यापार के संबंध में मेरे मन में जब-जब भी प्रश्न उठा था, शाहजी के वे शब्द कानों में गूंज उठते थे।

प्रेरणा के उच्चगिरि शृङ्ग

आज तीस वर्ष पूर्व जब कि हमने शाहजी के दर्शन प्राप्त किये थे, वे लगभग पचास वर्ष के थे और उस समय उनकी बाल्यावस्था का लगभग पैंतीस-चालीस वर्षों पूर्व वाला वह युग और समाज जिसने उनके प्राणों को सर्वाधिक स्पर्श किया था, उनके सामने से अवश्य जल्दी-जल्दी ओझल हुआ जा रहा था। अतः उसके प्रति उनकी अशेष अनुरंजित ममता स्पष्ट थी। मेरे लिए भी वह नितान्त दुरूह अतीत न था अतः उन स्मृतियों के प्रति मेरे मन का बंध जाना भी स्वाभाविक था। तब से अब तक के गत तीस वर्षों में आज का समाज इतना अधिक अति नवीन है कि इसके लिए उस युग और समाज के लोग आज एकदम अज्ञात और बहुत कुछ पराये हो चुके हैं। मानो वे उन दुर्गम गिरि-शृंगों के समान हैं जिन्हें तलहटी में खड़ा हुआ बालक ऊपर शिर उठाकर निहारता और विस्मय से अकचका उठता है किन्तु वे दुर्गम शृंग मुखर न होते हुए भी उदार हैं। नैतिकता की उड़ान में ऊंचे उठ सकने की आकांक्षा रखने वाले तरुणों को उद्‌बोधन देकर मानो वे कहते रहते हैं—'चढ़ो-चढ़ो ऊपर आओ तो सही। यहाँ पहुँच जाने पर तुम्हें उस शीतलता की उपलब्धि होगी जिससे तुम्हारी समस्त क्लान्ति और विकलता सदा के लिये दूर हो जायेगी।'

उस साल घर में कोई मांगलिक कार्य छिड़ा हुआ होगा। कोठी की सर्वाङ्गीण

सफेदी-सफाई चली हुई थी । बात अग्रवाल समाज में शादी-ब्याह में फिजूल खर्ची पर चल पड़ी । अग्रवाल के घर में शादी के अवसर पर अन्न, घी-मसाले, सब्जी और शक्कर की भरपूर मरम्मत होती है, और तारीफ यह कि बाराती लोग उस थाल पत्तल पर रखा व्यंजन भरपेट खा लेना बिलकुल अपनी इज्जत के विरुद्ध समझते हैं । परिणाम-स्वरूप प्रत्येक पत्तल पर परसे हुए व्यंजन में से रुपये में पन्द्रह आने खिड़की के बाहर गली में फेंका जाता था । शाहजी ने जूठन न छोड़ने वालों के प्रति सराहनात्मक भाव प्रकट किए थे और फारसी का एक शेर भी सुनाया था जिसका सारांश था कि थाली भगवान से प्रार्थना करती है और कहती है कि : हे परवरदिगार ! जैसे इस आदमी ने मुझे पाक-साफ किया है, वैसे ही तू भी इसे हमेशा पाक-साफ बनाये रखना ।

गिरों रखे जाने की विचित्र घटना

इसी बात के सिलसिले में शाहजी ने एक बड़ी ही अद्भुत घटना का उल्लेख किया था । उन्होंने बतलाया कि अपने किसी 'जजमान' के घर से ब्याह-शादी के दिनों गली में फेंके हुए उच्छिष्ट खजहजों (खाद्यान्नों) की उस घर में काम करने वाली मेहतरानी के कुटुम्ब के सभी प्राणी लगकर इकट्ठा करते जाते हैं, और फिर उन खंडित लड्डू-कचौड़ियों को सुखा कर वे कूटते और उस चूरे का बड़ा-बड़ा लड्डू बना डालते हैं और फिर तो उन लड्डुओं की पिटारियां नातेदारों और रिस्तेदारों में निहायत दरियादिली के साथ वितरित की जाती हैं ।

यों तो एक मेहतर मुहल्ले के जिन तमाम लोगों के घरों का कूड़ा-कचरा फेंकता है, वे सभी उसके जजमान होते हैं, किन्तु अपने उन सभी 'जजमानों' में मेहतर की निगाह में उसके अग्रवाल जजमान की कितनी अधिक कीमत होती है, इसकी चर्चा करते-करते उनके मुंह से निकल ही पड़ा था कि कैसे अपने जीवन में एक बार शाहजी के पूज्य पितृदेव 'रेहन' हो गये थे ! उन्हें किसने 'रेहन' रखा, कितने पर 'रेहन' रखा, क्यों 'रेहन' रखा इसकी उन्हें (पिताजी को) कोई जानकारी ही न थी, फिर भी वे 'रेहन' रख दिये गये थे ! पक्के दस्तावेजी कागज पर 'भोगबन्धक' रेहनदारी की लिखा-पढ़ी हो जाने के बाद दूसरे दिन सबेरे जब अपनी मेहतरानी की जगह कोई दूसरी मेहतरानी काम पर आई और चौकीदारों में से एक ने पूछा-पाछी की, तो बात जाहिर हुई । नवागता ने एक ठसके के साथ जरा जोर से सुनाते हुए कहा था कि : 'सरकार पांच बरस के लिये हमारे

यहाँ 'गिरों' हो गये हैं !' बात यह थी कि उनकी मेहतरानी का घर गिर गया था। उसे अपनी लड़की की शादी भी करनी थी। आगामी पांच वर्षों में शाहजी के यहाँ लड़के-लड़कियों की दो-तीन शादियां होने को थीं। उसने सोचा पांच सौ पर शाहजी को 'बन्धक' कर दें। सो एक पैसे वाले ने पाँच सौ रुपये दे दिये और लिखा-पढ़ी हो गई थी ! शाहजी के पिताजी ने यह सुनते ही तत्काल अपनी मेहतरानी को बुलवाकर उसे पाँच सौ रुपये दिये थे, और बड़ी विनम्रता के साथ उससे यही कहा था कि वह तत्काल उन्हें उस मेहतरानी की रेहनदारी से मुक्त करा दे !

वे यह सब बड़ी रुचि लेकर कह ही रहे थे कि तभी काम पर लगे हुए मजदूरों के बीच कुछ हल्ला-गुल्ला हुआ। सरदार (मजदूरों के मुखिया) को बुलाकर उन्होंने जरा डाँटा, और फिर तुरन्त ही मुस्कुराने लगे। मालूम हुआ कि किसी मजदूर का पैर फिसल गया था और नीचे गिर जाने से उसे चोट आ गई थी। उसे बुलवाकर अपने हाथ से उसकी मरहम-पट्टी की और जब वह चला गया तो, जैसे अपने स्वल्प आवेग के लिये वे कुछ लज्जित हों, अपने बड़े भ्राताजी को स्मरण करके उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धा के स्वरों में बोले : 'बड़े भैया का एक बड़ा पुराना नौकर है, जो बहुत जोर-जोर से बोलता है जब उनसे सहा नहीं जाता तो उसे बुलाकर वे कहते हैं : 'थोड़ा धीरे बोला करो !' और वह तुरन्त उत्तर देता है : 'बहुत अच्छा सरकार !' पिछले बाईस वर्षों से प्रायः प्रतिदिन ही उन्हें उसकी तम्बीह करनी पड़ती है, अपने उन्हीं नपे-तुले चार शब्दों में, और वह भी उन्हें बराबर उत्तर देता है उन्हीं गिने हुए अपने तीन शब्दों में। परन्तु न वह कभी भी धीरे बोलता है, और न ये उससे चार से अधिक शब्दों में कभी कुछ कहते हैं।

निस्पृह गुरु द्वारा शिक्षा

मेरे पूछने पर कि शाहजी की और उनके बड़े भाई श्रद्धेय डाक्टर भगवानदासजी की शिक्षा क्या मुख्यतः हिन्दू कालेज में हुई थी, उन्होंने अपार श्रद्धा और कृतज्ञता के साथ अपने विद्या-गुरु को स्मरण किया। उनके गुरु श्री हरिभट्टजी मानेकर एक निस्पृह और अपरिग्राही विद्वान ब्राह्मण थे। श्री माधोदासजी शाह के होनहार पुत्र रत्नों को निःशुल्क संस्कृत पढ़ाने का भार उन्होंने ओढ़ा था। भगवानदासजी और सीतारामजी एक ही साथ उनसे संस्कृत पढ़ते थे। पक्के महाल की किसी गली में वे रहते थे। उन्हें कोठी लाने के लिये प्रतिदिन जोड़ी (दो घोड़ोंवाली गाड़ी) भेजी जाती थी। यदा-कदा जब वे नहीं आ पाते थे, उस दिन बच्चों को अपने पास बुलवाते थे। उन दिनों काशी में सफेद और केसरिया रंग के पेड़े पैसे में दो

आते थे। जिस दिन बच्चों को उनके घर आना होता था, श्री मानेकरजी दो पैसे के चार पेड़े मंगाकर रख लेते थे, और पुस्तक का अध्याय आरम्भ करने के पूर्व दोनों भाइयों को डंड-बैठक करने का आदेश करते। जीतनेवाले को तीन पेड़े मिलते और हारनेवाले को केवल एक। उस दिन शाहजी ने बतलाया था कि किसी दिन उनकी जीत होती थी और किसी दिन बड़े भाई की। पर समदर्शी गुरुदेव के समक्ष पेड़ों का भुगतान बराबर-बराबर ही रहता—अर्थात् छोटे भाई की जीत होने पर वे कहते—तुम छोटे होकर तीन खाओगे और बड़ा भाई केवल एक ? ऐसे ही बड़े की जीत होने पर कहते—तुम तीन पेड़े खाओगे और तुम्हारा छोटा भाई एक ही खाकर तुम्हारा मुंह देखता रहेगा ?

शाहजी का स्वर्गवास २२ नवम्बर १९५७ ई० को हुआ और ९ महीने २६ दिन बाद उनके बड़े भ्राता डा० भगवानदासजी गोलोकवासी हुए। मानना पड़ेगा कि जीवन की सबसे महान अन्तिम प्रतियोगिता, स्वर्गारोहण में, उस दिन छोटे भाई बड़े भाई से बाजी मार ले गये थे। इस जगत के अपने-अपने जीवन में न्यूनाधिक अर्जित पुण्य अपनी-अपनी पूंजी का वे स्वर्ग में भी समय का उपभोग करके अनन्त आनन्द के भागी होंगे। आज मुझे भी इस बात का आनन्द है कि तीन वर्ष पूर्व २२ नवम्बर को शाहों में शंकर अपने शाह सीतारामजी के स्वर्गवास का समाचार पढ़कर उनकी श्रद्धांजलि में दो शब्द लिखने की मेरी जो अभिलाषा थी, वह २२ नवम्बर, १९६० को उनकी तीसरी वार्षिक श्राद्ध-तिथि के अवसर पर पूर्ण हुई है।

●

१० : रंगे वाराणसी उर्फ बनारसी रंग

० ० ०

जिस बरणा (शुक्लीकरण या पालिश करने वाली) का काशी वाले 'वरना पाप हरना' कहते हैं और जो 'अघ ओघ कौ असील असि सम असी है' दक्षिण ओर उसी असी और उत्तर ओर उसी वरणा नदियों के बीच बसी 'वरणासीया वाराणसी' भारत में अंग्रेजों की अमलदारी में 'बिनारस' (Benares) नाम धरी जाने पर भी सतत एक रस बनारस रहने वाली है। 'पाप काटिबे कौ आरा। श्री गंगा जी कौ धारा' से अपने पूर्वी अंचल में अहर्निश प्रक्षालित, सप्त पुरियों—१. अयोध्या २.मथुरा ३. माया ५. कांजी ६. अवन्तिका तथा ७. द्वारावती में मध्यस्था यह ४. 'काशी पाप नाशी' नाम से भी युगों-युगों से विख्यात रही है। संसार का केवल एक ही ऐसा नगर योरप का है (कोई दूसरा हो तो हो, मुझे ज्ञान नहीं) जो 'बूदा' और 'पेस्त' नामक दो नदियों के मध्य आबाद होने से 'बूदा पेस्त' कहलाता है। किन्तु शिव (कल्याण) की जटा से निःसृत हमारी गंगा जैसी

तीसरी पुण्यतोया वहाँ कहाँ ? अतः हमारे पूर्वजों का यह कहना कि 'काशी तीन लोक से न्यारी है' सर्वथा उचित ही है ।

एक अकेले लाल रंग के जैसे 'क्रिम्सन', 'चाकलेट', 'मैरून', 'स्कारलेट', अथवा 'तूली', 'खूनी', 'लोहिया', 'सुरुख', 'सुरंग', 'कुसुंभी', 'पियाजी', 'बदामी', 'शर्बती', 'लाही', 'सिन्दूरिया', 'मनियरा', आदि कई 'शेड' होते हैं । उसी प्रकार रंगे बनारस की भी अनेक लहरें हैं। सात मौलिक रंगों को तो प्रायः सभी जानते हैं परन्तु संसार के इस आठवें अत्यन्त मौलिक और दुर्लभ बनारसी रंग को बिरले भाग्यवान ही जानते, मानते और छानते हैं । लाल, हरा, नीला, पीला आदि सतरंगों जैसा यह कोई एक नामजद रंग न होने पर भी अपने यकरंग में ही सतरंगी और नवरंगी रंगकारियों की रंगारंगी झलकाता है । और यह सब इसी कारण है, कि यह एक ही में तीन—वाराणसी, काशी और बनारस है । या तीन होकर भी, असी, बरना और गङ्गा से तर क्रमशः वाराणसी, काशी और बनारस के अलग-अलग तीन रंग हैं । प्रथम है—साधु-संन्यासियों, वैषानसों के श्रेय का प्रतीक असी का खाकी या भगवा वाराणसेय रंग, और दूसरा है उत्सव-आनन्द तथा लावण्य-वैभव-संयुक्त ललित, चुलबुला राग-रंजित 'बरणा-ई' बरणाई सिंदूरिया रंग । और इन दोनों के बीच तारतम्य और संतुलन स्थापित रखने के लिए प्रवाहित है पांडित्य की प्रखरता से झलझलाता हुआ, 'नव उज्ज्वल जल धार हार हीरक सी...' गङ्गा-लहरी का श्वेत काशीय रंग ! इन तीनों रङ्गों की गङ्गा-जमुनी (नहीं-नहीं, यहाँ जमुना कहाँ, अतः) गङ्गा सी, वरणा सी या गङ्ग वरणासी यह रंगे वाराणसी त्रैलोक्य का शृङ्गार एक बड़ा ही अलबेला रंग है । यह बनारसी रंग कोई मौसमी रंग नहीं । यह फकत रंग रोगनी भी नहीं । यह बारह मासी और सदा सफल यानी सदा फली है । जीवन में केवल एक बार इसका एक ही प्याला छानना काफी होता है । फिर तो 'सूरदास की काली कामरि चढ़ै न दूजो रंग' । यह सारगर्भित, सदा फली और सराबोर होने के साथ-साथ सार्वजनिक भी है, यानी राव से रंक तक सभी एक समान इस बनारसी रंग में सराबोर रहते हैं । असली बनारसी पहिले बनारसी, और तब सब कुछ और, अगर नहीं है तो समझ लीजिए कि वह 'माटी के धोंधा' के अतिरिक्त कुछ नहीं है । और बनारस की चर्चा सुन बनारस से बहिर्गत जिस बनारसी के नयन उसे देखने के लिए सजल नहीं हो उठते उसे क्या कहा जाय ? 'मोद न मन, तन नयन पुलक जल, सोनर खेहर खाव ।'

बनारसी रंग एक ओर भांग भभूत का रंग है और दूसरी ओर सोहाग का ।

इसी सोहाग के सिन्दूर की कहीं से एक चुटकी पाकर 'श्रबे—प्रीवोत्स' ने अपनी 'मेनालैस्को' की गुस्ताव फ्लावेर ने 'इना बावोरी' की, मारिस-मेटरलिंक ने 'मोना-वाना' की और सोमर सेट माम ने 'केक्स ऐंड एल' वाली अपनी रोजी की मांग का सोहाग रचा है। अहल्या, द्रौपदी, कुन्ती आदि प्रसिद्ध पांच नारियां एक से अधिक पतियों की प्यारियाँ होने पर भी हिन्दू-परम्परा में पंच कन्या किस कारण अभिहित हुई हैं, और क्यों इन पंच-कन्याओं के प्रातःस्मरण से महापातकों का नाश हो जाता है, इसका रहस्य भोलेनाथ के इस बनारसी रंग में रंजित हुए बिना कोई माई का लाल कभी समझ नहीं सकता !

नौ लखा हार या कंठा पहन कर भी मस्तक पर भभूत का लगाना ही अपना सर्वोत्कृष्ट अलंकरण मानना अथवा अलंकार-विहीन या विकृत और कुरूप होते हुए भी कर्म-सौन्दर्य से अपने को सुन्दरतम से भी अधिक आकर्षक बना लेना, तथा संसार के अपूर्व से अपूर्व सौन्दर्य और आकर्षण से भांथ के साथ पीकर उसके सम्मुख शंकर सदृश प्रशान्त बने रहना 'बनारसी कल्चर' की रूह है। यह रंगे-वाराणसी या वाराणसेय-संस्कृति काशी विश्वनाथ की संस्कृति है। यही एक मात्र विश्व-संस्कृति है क्योंकि सभी संस्कृतियों में यही 'शिव' संस्कृति है। काशी के कल्चर का निर्माण न जाने कितनी शताब्दियों में हुआ है, इसके निर्माण में न जाने कितनों को कितने कसाले उठाने पड़े हैं !

विषयानुराग मूलक अति नागरिकता तथा मनसा पंगु बना देने वाली यांत्रिक सुख-संकुलता ने अतीत में कितनी ही सभ्यताओं के ऊंचे महल उठाये और ढहाये हैं। उत्कर्ष के सर्वोच्च शिखर पर पहुंच रही वर्तमान विज्ञानवादी योरोपीय सभ्यता का पर्यवसान भी, जैसा कि कुछ सयाने अवश्यम्भावी बता रहे हैं, यदि सृष्टि के संहार में हुआ तो आज की तथा कथित सर्व श्रेष्ठ सभ्यता के ललाट में नन्दन-कानन को श्मशान कर डालने के कलंक का टीका पत्थर की लकीर के समान अटल लगकर ही रहेगा। इसके विपरीत शिव-संस्कृति को श्मशान को नन्दन कानन बनाने का श्रेय है। श्मशान में शिव के निवास का यही अभिप्राय है। निस्सन्देह बीसवीं शताब्दी के नवीन-विज्ञानवाद के लिए यही शिव-संस्कृति आशा और प्रकाश की किरण है। इसी कारण यह विश्व-संस्कृति विपर्यय को अधिक प्रत्यक्ष करने के लिए शिव-संस्कृति के इस पावन प्रसंग में एक ग्लानिपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करने की अभद्रता क्षमा हो, दो-तीन दिन हुए एक बड़ी मजेदार बात हुई है। हाल ही में अमरीका से लौटे हुए एक महाशय मारकीन-सभ्यता में

यांत्रिक सुविधाओं का बखान करते समय वहाँ के एक कारखाने का विवरण देने लगे। बोले, उस फैक्ट्री में एक फाटक से, नीचे प्रवाहित बालिश्त भर गहरी पानी की धारा में से होते बकरों के झुण्ड के झुण्ड प्रवेश करते हैं। फिर एक मशीन पलक गिरते उन सबके खुरों और सींगों को उनके शरीर से अलग कर देती है। दूसरी मशीन उन सबको चर्म रहित करती, तीसरी उनकी आँतें साफ करती और चौथी उनके खंड-खंड करके पाँचवीं मशीन में पकने के लिए भेज देती है; जहाँ से दूसरे फाटक से होकर सजी-सजाई प्लेटें एक बहुत बड़े स्थानीय होटल में टेबुलों पर पहुँचती रहती हैं। एक दूसरे सज्जन जो कुछ दिन हुए रूस से आये हैं यह सुनते ही छूटकर यह बोले: 'जी! रूस में भी एक कारखाना है जिसके एक फाटक से, तमाम होटलों में चिचोरकर फेंकी हुई सारी हड्डियाँ इकट्ठा होकर अन्दर भेजी जाती हैं जहाँ पहली मशीन उन्हें बिलगाकर अलग-अलग ढेरियाँ लगाती है। दूसरी मशीन हड्डियों को जोड़कर एक-एक बकरे के हड्डी का ढाँचा, खुर और सींग के सहित तैयार करती है। तीसरी मशीन उन ढाँचों में मांस और मांस-पेशियों की और पेट में आँतों की प्रतिष्ठा करती है और चौथी मशीन प्रत्येक में रक्त का संचार करती तथा विभिन्न रंगों वाले बालों सहित उनपर त्वचा चढ़ाकर उनमें प्राण फूंक देती है और आध घंटे के भीतर दूसरे फाटक से वे भुभकारी मारते हुए, नीचे बह रहे पानी के एक बीते गहरे चश्मे में अपने खुर स्वच्छ करके बाहर मैदान में चरने और चौकड़ी भरने के लिए निकल जाते हैं! इस प्रकार के कार-खाने सचमुच अमरीका और रूस में हैं भी या यह सब कहने वालों की कपोल-कल्पना ही है, यह आप जानना चाहें या न जानना चाहें, पर इतना आपको जानना ही चाहिए कि यदि प्रथम प्रकार का कारखाना प्रतीक है आधुनिक विज्ञानवादी योरोपीय सभ्यता का तो दूसरा कारखाना प्रतीक है शिव-संस्कृति या काशी-विश्वनाथ संस्कृति का। एक शब्द में बनारसी रंग का। 'शिव-संस्कृति को श्मशान को नन्दन-कानन बनाने का श्रेय है' मेरे इस उल्लेख का यही तात्पर्य है। एक बात और। जिस किसी समाज की संस्कृति का यह (श्मशान को नन्दन-कानन बनाने का) रंग होगा वह समाज चाहे राम-राज्य हो अथवा साम-राज्य, या साम्यराज ही क्यों न हो संसार का सर्वश्रेष्ठ वह मानव-समाज तमाम दुनियाँ के हृदयों पर शासन करने का अधिकारी है।

यह कोई भूल कर भी न समझ बैठे कि यह रंगे बनारस या शिव-संस्कृति प्रगति और आधुनिकता का विरोध करने वाली, एक महज भँगेड़ियों-गंजेड़ियों और भुक्खड़ों-भिखमंगों की बाबा आदम के जमाने की पुरानी-धुरानी संस्कृति है

जिसमें केवल कूप मंडूकपन और अहं का ही अस्तित्व है। सच तो यह है कि यह प्राचीनतम से प्राचीन और नवीनतम से नवीन है, क्योंकि ऐश्वर्य और संग्रह की अनन्तता के शिखर पर पहुँच कर त्याग और अपरिग्रह के आनन्द रसामृत की इसने उपलब्धि की है। इस कल्प-वृक्ष का मूल है आनन्द; सेवा, दान, त्याग, तितिक्षा और निर्वेद हैं इसकी शाखायें; मन, वचन और कर्म की स्पष्ट एकरूपता है इसकी मंजरी; और कल्याण है इसका फल। अहंकार, आक्रोश, आक्रमण और आक्रन्दन के पिशाचों को यहाँ आश्रय नहीं। अभी तो हमारी बीसवीं शताब्दी ने साम्पत्तिक साम्यवाद का (और कुछ-कुछ बौद्धिक साम्यवाद का भी) श्रीगणेश ही किया है; और आज दुनिया इसी नारे के दायें-बायें उभ-चुभ है। पर वाराणसेय संस्कृति ने इस सीढ़ी पर से अपनी यात्रा हजारों वर्ष पूर्व समाप्त कर, साम्पत्तिक साम्यवाद एवं बौद्धिक साम्यवाद से कहीं ऊपर उठकर नैतिक साम्यवाद और उससे भी अधिक मूल्यवान आध्यामिक साम्यवाद की भी उपलब्धि की है। साम्पत्तिक विपर्यय के बावजूद मनुष्य और मनुष्य के बीच के सुघर साम्य को सँवारने वाली काशीवासियों की पावन मनोवृत्ति उनके जीवन-व्यापार में प्रतिपल लहराती रहती है। दो-तीन उदाहरण पर्याप्त होंगे :—

० ० ०

नित्य नियमानुसार बंसी सरदार रामघाट पर साफा-पानी के बाद, नंगे पैर, नंगे सिर, सफेद दुपट्टा ओढ़े, और गीला लाल बनारसी गमछा कंधे पर फेंके, भंग की तरंग में मन-घोड़े पर सवार, 'खाने को भंग, नहाने को गंग, चढ़ै को तुरंग' आदर्श के पक्के अनुयायी बने, कुंजन साव (तमोली) की दूकान की पटरी पर शाम सात बजे बैठे मुंह में पान घुला रहे हैं। सामने से राय साहेब अपने भानजे 'चन्दर' के साथ, जो 'इंडियन सिविल सर्विस' के लिये परीक्षा में उत्तीर्ण हुए हैं, दशाश्वमेध घाट से टहल कर अपने घर (दारानगर) वापस हो रहे हैं। बंसी की निगाह पड़ जाती है। 'भैयाजी ! जै रामजी की ! ऊंट की तरह गरदन ऊपर-ऊपर करके वे ललकारते हैं। राय साहेब रुक जाते हैं। 'पान खा लेहल जाय।' सरदार कहते हैं। राय साहेब एक निगाह अपने 'चन्दर' पर डाल कुछ शशोपंज में पड़े ही हैं तब तक एक दुअन्नी कुंजन साव के तख्ते पर डाल कर सरदार कहते हैं : 'कुंजन साव ! खियावा पान तऽ भैया जी के !' राय साहेब का कहना था कि वे बंशी सरदार का आग्रह ठुकरा नहीं सकते थे। कुंजन साव चार पान लगा कर दो राय साहेब को देते हैं, और दो कमीज-पैंट धारी उनके तरुण साथी की तरफ बढ़ाते हैं, परन्तु 'तरुण साहेब' नाहीं कर देते हैं। सरदार

मुंह की पीक थूक कर कहते हैं : 'खाय लो साहेब, असली मघई हो !' परन्तु चन्दर साहेब को बिलकुल ही इनकार है। तब सरदार उसे लेकर अपने मुंह में रख लेते हैं। रास्ते में चन्द्रकिशोरजी राय साहेब से पूछते हैं कि यह सरदार कौन है ? मामा साहेब भानजे साहेब को बतलाते हैं कि यह वही है जो दिन में उनके बैठके में बनाये जा रहे नये 'बाथरूम'(स्नानागार) के निर्माण-कार्य में मिस्तिरी का काम कर रहा था। दिन भर की मजदूरी के ढाई रुपये शाम को पाकर जब वह लंगोटे के ऊपर एक बड़ा मटमैला फटा कपड़ा बांधे धूलि-धूसरित पसीने में लथ-पथ घर जा रहा था, उसके जै राम जी कहने पर भी चन्दर साहेब ने उधर मुखातिब होना अपनी शान के खिलाफ माना था। पर अब जरा झेंप कर चन्द्र-किशोर जी बोले : मामा ! इसके तो कुछ अजीब ही ढंग हैं !' 'अजीब ढंग-वंग कुछ नहीं चन्दर ! यही बनारसी रंग है !!' रायसाहेब ने 'उड-बी-कलेक्टर' (होनहार जिलाधीश) को समझाया था।

० ० ०

'लड़ गये ! लड़ गये !! लड़ गये !!!' एकाएक चारों ओर से चौक में हल्ला हुआ। नगर में कुछ दिनों से दो वर्ग के लोगों में कुछ तनाव का वातावरण था। चौक के थानेदार ने शहर-कोतवाल को, और शहर कोतवाल ने जिला-कप्तान को फोन किया कि ज्ञानवापी में 'दंगा' हो गया ! हाथियार-बन्द पुलिस का दस्ता जब वहां पहुंचा सब कुछ शान्त था। बहुत जांच-पड़ताल हुई पर कुछ खास पता न लगा। दूसरे दिन स्थानीय समाचार-पत्र ने दो-कालमी मोटी हेड-लाइनों में छापा 'विश्वनाथ की गली में दो सांड़ लड़े ! दंगे के संदेह में पुलिस की सरगर्मी और धुकुड़ पुकुड़ !!'

बात असल में कुछ और ही थी। एक बनारसी बांका या रंगदार विश्वनाथ की गली में पान खाकर दूकान के आईने के सामने खड़ा अपनी मूंछों पर हाथ फेर रहा था। दैवात् उसी क्षण दूसरा गुण्डा उधर से गुजरा। अपने प्रतिद्वन्द्वी को उसने मूंछें ऐंठते देखा तो समझा कि वह उसे ही देखकर मूंछों पर ताव दे रहा है। अतः वह रुक गया और ललकार बैठा। पहले ने भी गुर्रा कर कहा: 'तो भिड़ा लो एक पानी, हम तैयार हैं !' 'फिर भिड़ै एक पानी ! हम कौन मुरदार हैं ?' जवाब मिला, और फिर क्या था। रास्ता रुक गया। दोनों ओर की जनता तमाशा देखने को रुकी रही। कोई पांच-सात मिनट तक दोनों में खूब लाठियां चलीं। एक का शिर खुल गया, तो दूसरे का हाथ टूटा, और पहले की हथेली जखमी

हुई तो दूसरे की केहुनी फूटी ! फिर जब हल्ला हुआ कि गारद आ रही है, तब 'अगिला' चुपचाप बायें ढुंढिराज की तरफ मुड़कर सरस्वती-फाटक होता हुआ सीधे धर्म-कूप (अपने घर) लौट गया। और 'पछिला' दाहिने मुड़कर नीची ब्रह्मपुरी होते बांस के फाटक में चला गया। दूसरे दिन बहुत पता लगाकर पुलिस धर्मकूप वाले के घर पहुँची और जब उसका बयान लेने लगी तो उसने कहा कि वह कल जरा तेजी से सीढ़ी से उतर रहा था तभी पैर फिसल जाने से उसके सिर और हथेली में जरा चोट आ गई। अब झख मारे पुलिस ! 'मियां बीवी राजी, तो क्या करेगा काजी ?'

० ० ०

सन् १६३४ की बात है। स्वर्गीय भागवत प्रसाद भार्गव (सुलेमानी प्रेस, बनारस वाले) और उनके भ्राताओं ने डाक्टर केतकर के मराठी ज्ञानकोश के हिन्दी-संस्करण की योजना तैयार की थी। संरक्षक की तलाश में योजना लेकर भार्गव-बन्धु काशी-नरेश के यहां उपस्थित हुए। महाराज श्री ने भेंट की, संरक्षक हुए, आर्थिक सहायता का आश्वासन दिया। जब उठने का समय निकट आ गया था तभी महाराज कुमार ने जो वहीं उपस्थित थे पूछा : 'तोहरै इहाँ सुलेमानी निमक बनत रहल ?' (अर्थात्—क्या आपके ही यहाँ नमक सुलेमानी बनाया जाता था ?) बड़े भैया (काशी बाबू) झट सावधान होकर बोले : 'हाँ धर्मावतार ! बाकी अब ओतनी बिक्री नाहीं होत !' (अर्थात्—हाँ धर्मावतार ! लेकिन अब उतनी बिक्री नहीं होती ।) 'अब लोग नकल निकाल लेहले होइहैं !' (अब लोगों ने नकल माल तैयार कर लिया होगा !), महाराज कुमार ने कहा। 'हाँ धर्मावतार !' कहकर काशी बाबू ने सिर हिलाया ही था कि बड़े महाराज बोले : 'बाकी रहल बड़े फादे कऽ चीज !' (अर्थात्—किन्तु वह थी बड़े फायदे की चीज !) इन छः शब्दों में महाराज श्री ने अपनी आत्मीयता एकदम निचोड़कर रख दी थी।

० ० ०

काशी नगरी शंकर विश्वनाथ महादेव की नगरी है, अतः महादेव ही उसके एकछत्र अधीश्वर हैं, और काशी-वासी सुर-नर-नाग-असुर-मुनि-किन्नर समस्त जलचर-थलचर-नभचर हैं उनकी प्रजा। परन्तु काशी की जनता कभी-कभी कुछ असाधारण महापुरुषों को शंकर का अंश मान 'हरहर महादेव' कहकर उनका अभिनन्दन करती आई है। जगद्गुरु शंकराचार्य के अतिरिक्त काशी नरेश को भी (जब भी वे कभी काशी में पधारते हैं) देखते ही जनता बड़ी लहक के साथ 'हरहर

महादेव !' कहने लगती है। पंडितों में यह असाधारण सम्मान महामहोपाध्याय पंडित शिवकुमार शास्त्री को प्राप्त हुआ था। वे काशी में जब भी किसी ओर निकल पड़ते थे, चारों ओर काशी-वासियों के 'हरहर महादेव' उद्घोष से दिशायें गूंज उठती थीं। इस प्रकार योगी, राजा और पंडित तीनों ही वाराणसी, बनारस और काशी के जीवन में समान सम्मान के स्तम्भ रहे हैं।

कहते हैं कि काशी शिव के त्रिशूल पर अधिष्ठित है। यह कल्पना ही एक अद्भुत कविता है। क्या सारा ब्रह्मांड ही शिव के त्रिशूल पर अवस्थित नहीं है? हमारी पृथ्वी ही को लीजिये। यह करोड़ों वर्षों से दिन-रात में अपनी जिस कीली के ऊपर एक चक्कर लगाती चली जा रही है वह कीली यदि शिव (कल्याण) की कीली न होती तो अब तक पृथ्वी भुरकुस होकर न जाने कहां छितरा गई होती। अतः शिव (कल्याण) के त्रिशूल यानी कल्याण की तीन नोकों—भाव, ज्ञान और कर्म—पर प्रतिष्ठित यह काशी भी जगत का एक लघु संस्करण ही है। असी, गंगा और बरणासी जिन्हें हम क्रमशः वैषानसी संस्कृति की तितिक्षा; बुद्धि और पांडित्य को चमचमाती हुई तेजस्विता; और राजसी ठाट, रंजन और अनुरंजन की कर्मण्यता का प्रतीक पहले कह आये हैं, शिव के त्रिशूल के तीन कोने मानी जा सकती हैं।

वाराणसी को साधना-पीठ बनाया है पार्श्वनाथ और शंकर से लेकर रामानन्द, नित्यानन्द, विशुद्धानन्द आदि जैसे वीतराग, जीवन्मुक्त योगियों के व्यक्तित्व ने। काशी का सृजन हुआ है मंडन मिश्र, श्रीहर्ष और पंडितराज जगन्नाथ से लेकर राम शास्त्री, बाल शास्त्री, शिवकुमार शास्त्री और गोपीनाथ कविराज तक के पंडितों द्वारा। और बनारस का? तो सुनिये, बनारस को बनारस बनाया बनारसी पान, बनारसी आम, बनारसी जर्दा, बनारसी साड़ियों और बनारसी कजरियों ने! बनारस को बनारस बनाया काशी के चौधुरी, और शाह और राय घरानों के चौधुरी हरिश्चन्द्र; शाह मनोहरदास और शाह मुकुन्ददास (झक्कर साह), तथा राय नरसिंहदास, और अपने समय के आगा खां राय लल्लनजी, राय छक्कनजी आदि अग्रवाल रईसों ने। और बंगाल, बिहार, पंजाब, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, काश्मीर, आंध्र आदि के बाबू-बबुआनों ने जो अपनी जवानी में 'हम बनारस पै फिदा, हम पै बनारस है फिदा!' मानकर बनारस में अधिक से अधिक दिन बसना अपने जीवन का महान् मनोरथ मानते थे; और जीवन के विषम गरल का पान करने पर भी बनारस में रहकर जीवन्मुक्त हो जाने के लिये मानो 'बाबाजी' के शब्दों में स्वयं भी यही कहते थे कि :—

जरत सकल सुरवृन्द, विषम गरल जेहि पान किय ।
तेहि न भजसि मतिमन्द, को कृपालु शंकर सरिस ?

और बनारस को बनारस बनाया है छोटे घरों में जन्म पाकर भी जीवन पर्यन्त जीवन-रस की उफनती प्याली अपने हाथों में लेकर छलकाते हुए चलने वाले उन हजारों दिलवरों ने जो लाखों कसाले करके अपनी जिन्दगी में एक हुस्न पैदा करना और उस हुस्न की रंगत को बनारस के जीवन में गार देना ही अपना परम धर्म समझते थे। बनारस के जीवन में अपनी हस्ती का रस यों निचोड़ कर बनारस में दुनिया के लिये अलभ्य रंग पैदा किया है 'प्रसाद' के बाबू नन्हकू सिंह जैसे जवाँ मर्दों ने; 'भौं चूमि लेईला, केहू सुन्दर जे पाईला। हम ऊ हई जे ओठे पै तरुआरि खाईला !' इस अपने कथन के अनुसार होठों पर तलवार झेलनेवाले तेगअलीओं ने; जिनके व्यक्तित्व और काव्य के सम्बन्ध में दुनिया 'अरबी पढ़े न फारसी—सबके चचा बनारसी !' कहती थी, और जो स्वयं अपने और अपने काव्य के विषय में कहते थे कि : 'हूँ जईफ दिल मेरा बड़ा जवानं है—कहे 'बनारसी' मेरा हरएक मिसरा कुरान है !' उन बाबा बनारसी जैसे ख्यालबाजों ने; दुखभंजन जैसे सिद्ध आशु कवियों ने; किनाराम जैसे औघड़ों ने; दांतों से पकड़ कर जल से मुँह तक भरे पानी के हंडे को जमीन से अंगुल भर ऊपर उठा लेने वाले देबी डोम जैसे बरियारों ने; भैरो मेहतर जैसे कजरी के 'शाइरों' ने; सेठ जग्गू और संतराम जैसे अखाड़ों के 'ओस्तादों' ने; 'श्री गाइडजी' और 'श्री पबलिक टाइमकीपरजी', 'श्री जयशंकरजी', और 'हरहर महादेवजी' जैसे बच्चे-बच्चे को ज्ञात काशी के हर-दिल-अजीज फक्कड़ों ने; और सम्मान तथा एहसान के एक पल पर सारे जहान के साम्राज्य तक को निछावर कर डालने वाले सैकड़ों-हजारों बेनाम-बेमकान अक्खड़ों, फक्कड़ों, भुक्खड़ों और औघड़ों से लेकर अनादृत जीवन के एक लमहे को ही नारकीय जीवन की अनन्त पीड़ाओं के समान दुस्सह मान शेष जीवन को चीथड़े की तरह चीर कर फेंकने वाले लछमनसिंह, भैरोनाथ, अलीशेख जैसे आन-बान-शान तथा बात-काछ और ईमान के भरपूर काशी के असोल गुन्डों ने। और ? हाँ और। बनारस को बनारस बना रखा है 'प्रलय पयोधि जले धृत वानसि वेदं—विहित-वहित्र चरित्रम खेदम् ; केशव घृत मीन शरीर जय जगदीश हरे !' से जो अपनी संगीत-सभा आरंभ करती थीं वह विद्याधरी, और 'बुध लड़कैयां मैं का जानौं राम !' तथा 'पुरुब जनि जइहौ, मोरे महाराजा !' से समापन करके निज स्वर-लहरी से लाखों की मनगंगा को तरंगित कर देने वाली हुस्ना, मानकी, राजेश्वरी, कमलेश्वरी आदि काशी की गन्धर्व कन्याओं ने !

और तभी तो मैं भी कहता हूँ कि संसार की विशाल नगरियों और पुरियों—लंदन, न्यूयार्क, पैरिस, बर्लिन, मास्को, तोक्यो आदि—में भले ही कोई निबन्ध हो और कोई उपन्यास, कहानी, समीक्षा, नाटक या एकांकी हो। काव्य तो एक-मात्र भारत की काशी ही है। सर्वाङ्ग काव्य, खंडकाव्य, महाकाव्य और लोरिक काव्य। वसन्त ऋतु में जब फगुनहट चलने लगती है, और ऐसा भान होता है कि मानों प्रत्येक कुएँ में भाँग घोल दी गई है उन दिनों लगभग बीस-पचीस दिन तक काशी एक चौथे प्रकार के काव्य का भी रूप धारण कर लेती है जिसे हम 'दिगम्बर काव्य' कह सकते हैं। 'छर्‌र्‌र्‌र्‌र्‌र्‌र्‌ भैया! सुन लो मोर कबीर!' से आरंभ होने वाले 'काव्य' दिगम्बर काव्य नहीं तो और हैं क्या?

और इसी काशी रूपी काव्य का कमल है 'सुबहे-बनारस' जो गंगा-तट पर कैसा दुर्लभ खिलता है, इसकी चर्चा मैं अन्यत्र कर चुका हूँ।[1] रामनगर की रामलीला के दिनों में गहिरेबाज बनारसी इक्कों की 'रेस' में, और छोटी-बड़ी गैबी, बौलिया, सारनाथ, 'उस पार', 'बहरी अलंग' में निपटने और छानने (साफा-पानी) में भी काशी-काव्य-कमल का काफी रिसता है। किन्तु इस कमल का रस, रंग और गंध खूब ही निथरता है सावन के दिनों, जब काशी की गलियों से नर-नारियों के झुन्ड के झुन्ड दुर्गाकुंड, संकटमोचन, सारनाथ, और कभी-कभी विन्ध्याचल तक 'पिकनिक' के लिये निकल पड़ते हैं और उस समय कानों में कभी तो किसी ओर से कजरी की यह टीप आती है कि : 'झूला पड़ा कदम की डारी, झूलैं राधा प्यारी ना!' और कभी यह कि :

तोहईं बाटू जग में जवान साँवर-गोरिया!
चार गुन्डा आगे चलैं, चार गुन्डा पिछवाँ,
बिचवा में चलैलू उतान साँवर-गोरिया!!

●

[1] पढ़िये इसी पुस्तक में 'सुबहे-बनारस' शीर्षक ललित निबन्ध।

११ : शब्द-संकलन

० ० ०

(१)

अपनी मुसीबत—एक मुसीबत !

शब्द-साधना यदि सबसे ऊपर वाली सीढ़ी है तो उसके नीचे वाली दूसरी सीढ़ी है शब्द-शोधन; और शब्द-शोधन के लिये शब्द-संकलन या शब्द-संग्रह तीसरी अनिवार्य नसेनी है। किसी समय हम भले हो प्रथम श्रेणी के रहे हों, पर आज तो तृतीय श्रेणी के ही हो रहे हैं, बल्कि तृतीय श्रेणी वालों के ही धकियाये हुए ! सो स्वेच्छा से जो शब्द-संकलन का भार अपने सिर ले लिया है तो यही अब हमारे व्यापार की परिधि है। इस शब्द-संकलन या शब्द-संग्रह से ही राष्ट्र-भाषा का भांडार भरेगा; और सच्चे अर्थों में हमारे देश की ऐसी एक भाषा हो सकेगी जिसमें हमारे राष्ट्रीय चरित्र की सभी खूबियां व्याप्त होंगी, और लोग चाहेंगे तो उसे राष्ट्र-भाषा कह सकेंगे। वह राष्ट्र-भाषा हिन्दी होगी ! इतने

विशाल राष्ट्र की वाणी हिन्दी होगी !! कब ? जब महान् त्याग, अगाध विनम्रता और असीम निरभिमानता तथा सम्पन्नता और समर्पण का परिचय हिन्दी दे लेगी तब। हिन्दी की आज अग्नि-परीक्षा है। वह उस परीक्षा में उत्तीर्ण होगी ?

हम हिन्दी-भाषियों के लिये यह एक बहुत गौरव की बात हुई है जो हमारी गङ्गा-यमुना-गोमती-सरयू के काठों की लाड़ली राजकुमारी हिन्दी आज अपना सुहाग पाकर दिल्ली में राजराजेश्वरी के राष्ट्र-भाषा के सिंहासन पर विराजमान हो रही है। लड़की व्याह देने के बाद बाप और भाई ससुराल के उसके साज-सिंगार पर नाक-भौं नहीं सिकोड़ा करते। सच पूछिये तो बाप का लड़की के घर जाना ही कब होता है ? और कभी-कदा वह जाता भी है तो ऐसे कि बिलकुल नहीं के बराबर। कन्या के घर खाना-पीना तो दूर, पानी भी किसी दूसरे गांव के कुएं से उसके लिये मंगाना पड़ता है। जमाना काफी प्रगतिशील है, फिर भी आधुनिक उच्च शिक्षा प्राप्त ऐसे कितने ही लोगों को हम जानते हैं जो अपनी लड़की के घर अपने लिये मिट्टी और दातुन तक साथ लेकर जाते हैं। पंजाब और बंगाल की तो हम नहीं कह सकते पर लाड़ली हिन्दी के पीहर[1] उत्तर प्रदेश में, दूसरे शब्दों में मधेसियों[2], भैयों[3], जमुनापारियों या गंगापारियों[4], बैसवारियों तथा सरयूपारियों[5] और भोजपुरियों[6] में तो यही चलन है। हमारे यहां लड़की के घर टिककर दामाद की रोटी तोड़ने वाला बाप बड़ा अधम माना जाता है। तिरहुतियों में भी मधेसियों या

---

[1]पीहर (सं० पितृगृह)=मायका। किसी स्त्री के माता-पिता का घर।

[2]मधेसिया=मध्यदेशीय। बंगाल, नेपाल, सिकिम, आसाम में पूर्वी उत्तर-प्रदेश और बिहार के लोगों को मधेसिया कहते हैं।

[3]भैया=पुरभैया=पुरबिहा। अहमदाबाद, सूरत, बम्बई, पूना आदि नगरों में उत्तरप्रदेश के लोग भैया पुकारे जाते हैं।

[4]मध्यप्रदेश में उत्तरप्रदेश के लोग जमुनापारी या गंगापारी कहे जाते हैं।

[5]बैसवाड़े (कान्यकुब्ज देश) के लोग अपने को बैसवारी और पूर्वी उत्तर-प्रदेश के लोगों को सरयूपारी पुकारते हैं।

[6]बिहार के लोगों को मैथिल भोजपुरिया कहते हैं और भोजपुरिये मैथिलों को तिरहुतिया (तीरभुक्तीय) कहते हैं।

बैसवारियों के ही समान, या शायद उनसे भी बढ़कर यह भावना पाई जाती है।[1] सो बिचारे बाप की स्थिति तो यह है। और भाई ? जिसकी बहिन अन्दर हो वह 'सिकन्दर' माना जाता है। सिकन्दर बना रहने के लिये चटपटी चाटुकारिता अनिवार्य होती है, इसलिये आलोचक कभी सिकन्दर नहीं हो सकता। यह दूसरी बात है कि आज एकाधे आलोचक भी सिकन्दर हुए जा रहे हैं ! अतः बहिन के घर भाई का नाक-भौं सिकोड़ना न सम्भव है और न स्वाभाविक। इस रिश्ते में एक विशेषता और भी है। चार प्रकार के रिश्तेदारों में साले चूल्ह-घुसुरन[2] कहे जाते हैं क्योंकि बहिन के घर के किसी भी कोने में उनका बेरोक-टोक प्रवेश रहता है। अतः यह रिश्ता माननेवाले हिन्दी-भाइयों के लिये बहिन हिन्दी की ससुराल समग्र राष्ट्र का कोना-कोना पलक-पाँवड़े बिछा सकता है। उधर भानजों के लिये मामा का घर पिता के घर से हजार गुना सुहावना होता ही है। याने सुदूर दक्षिण तक हिन्दी-भाषी, और हिन्दी की जन्मभूमि उत्तरी भारत में दक्षिण वाले, निस्सं-

[1]सन् १९३३ ई० में अवधवासी भूप श्रीलाला सीताराम बी० ए० का संस्मरण लिखने के लिये हमने कई बार उनके कीटगंज (प्रयाग) वाले मकान में भेंट की थी। उन दिनों लाला जी ने हमें कई बड़ी मनोरंजक बातें बतलाई थीं। एक बार महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ जी झा दर्शनों के लिये अयोध्या पधारे थे और लाला जी के यहाँ ठहरे थे। प्रातःकाल उठते ही पंडित जी कुछ कपड़ा खरीदने के लिये लाला जी को साथ ले बाजार गये। बाजार में उन्होंने एक साड़ी खरीदी। रंग खरीदा। लौटकर साड़ी रँगवाने के लिये लाला जी से कहा। मिथिला में पुरुष भी नया वस्त्र रँगकर ही पहिनते हैं। पर वह तो जनानी साड़ी थी। लाला जी को असमंजस में देख महामहोपाध्याय जी ने कहा—'लाला जी ! यह लली जी के लिये है।' कौन लली जी ? वही, जनक-दुलारी जानकी। जानकी मिथिला की कन्या थीं, अयोध्या ब्याही थीं। मैथिल ब्राह्मण अब तक उस मर्यादा का निर्वाह करते जा रहे हैं।

[2]'तरक', 'ताकन', 'चूल्ह-घुसुरन' और 'हें-हें' ये चार प्रकार के सम्बन्धी माने गये हैं। साले साहब आयेंगे तो दरवाजे पर बिना रुके सीधे घर के अन्दर घुस जायेंगे और अगर बहिन चूल्हे के पास रही तो सीधे रसोईघर में धँस पड़ेंगे। वे यह नहीं देखेंगे कि बहनोई दरवाजे पर था भी या नहीं ? इसी से साले चूल्ह-घुसुरन कहे जाते हैं। साढ़ू भाई 'हें-हें' होते हैं। छठें-छमासे कहीं मिल गये तो एक कहता है : नमस्ते भाई साहेब। हें-हें, कहिये सब कुशल तो है ? दूसरा उत्तर देता है : हें-हें भैया ! तुम्हारी कृपा से सब ठीक है।

कोच अपरिमित स्नेह, सौहार्द्र और सगाई के साथ रम सकते हैं। दक्षिण में तो मामा-भानजों की आत्मीयता की और अधिक प्रगाढ़ परम्परा है। सुनते हैं वहाँ भानजों को गोत्र मामा से ही मिलता है। कुल मिलाकर हमें यही कहना है कि हिन्दी के भविष्य के स्वरूप को अब उसकी ससुराल वाले जैसे भी संवारना चाहें संवारें। उसके मायके वालों (हिन्दी-भाषियों) को उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। हम तो उसे अधिक से अधिक जितना दाय भाग दे सकें नितान्त समर्पण-भाव से देते रहें। बस हमारा धर्म इतना ही है। पर जिन्हें यह रिश्ता मंजूर न हो वे जैसा मन आवै करें। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन देखने का सपना उन्हें तब अपूर्ण मान लेना होगा। हम तो प्रथम पीढ़ी में होने से श्वशुर ही नहीं, चार-चार बच्चों के नाना भी हो चुके हैं। हाँ दूसरी पीढ़ी में होने वालों में से जिन्हें साले-बहनोई के रिश्ते की स्वीकृति में कुछ हेठी जान पड़ती हो वे इतर प्रदेशीय, बङ्गला, असमी, मराठी, गुजराती, तामिल, तेलगू आदि भाषाओं को हिन्दी की बहिनें मान उन घरों को मावसी का घर समझकर वहाँ पधार सकते हैं। यह भी एक बड़ा प्यारा रिश्ता होता है। मसल मशहूर है कि 'माई मूवै, मावसी जीवै!' यानी माता के मर जाने पर यदि मावसी जीवित है तो चिन्ता की कोई बात नहीं। किन्तु इस रिश्ते में हिन्दी का दावा उतना नहीं रह सकेगा।

हम तो हिन्दी को राजराजेश्वरी मानने वालों में हैं, और राष्ट्र के मुद्रा-कोष के ही समान राष्ट्र-भाषा के शब्द-कोश को भी अनन्त और अगाध बना देने की अभिलाषा रखने वालों में भी। एक मजेदार बात ध्यान में आ रही है। हमारा देश अभी 'कामनवेल्थ' है और 'कामनवेल्थ' की एक राजराजेश्वरी है। अतः राजा रानी और अभिषेकों का रूपक बांधने के लिये क्षमा पाऊं! कल्पना कीजिये कि राजधानी (दिल्ली) में राजराजेश्वरी (हिन्दी) के राज्याभिषेक का (१४ सितम्बर को) कोई वार्षिक समारोह हो रहा है। एक तरफ द्राविड़, उत्कल बंग से लेकर असम तक के प्रतिनिधि, और दूसरी ओर केरल, महाराष्ट्र, गुर्जर, पंचनद से काश्मीर तक के प्रतिनिधि अपना-अपना उपहार लेकर उपस्थित हैं। राष्ट्र-कवि, महाराष्ट्र कवि सभी मौजूद हैं। महाकवि शमशेर बहादुर सिंह को सेहरा अव्वल पढ़ने के लिये बुलावा है, और वे भी वहां पहुँच चुके हैं। सभी राजराजेश्वरी के मेहमान हैं। इसी बीच विदर्भ के प्रतिनिधि का अमरावती-निवासी भृत्य सर्दी-जुकाम से अत्यधिक पीड़ित हो जाता है। सर्दी-जुकाम से उसे जब भी हलका-हलका ज्वर, माथे में बिथा, छाती में दर्द आदि कष्ट होता है वह

'भोकरी' के पेड़ की चार-छः पत्तियां तोड़कर तोले भर गेहूँ के चोकर (आटा छान लेने पर बची हुई भूसी) और चुटकी भर नमक के साथ आध-सेर पानी में उबाल लेता है। जब आध सेर का एक पाव रह जाता है, तब उसे छान कर शीत-गरम वह पी लेता है। दोपहर और रात में सोने के पूर्व इस दवा के दो बार के सेवन से ही उसका सारा सर्दी-जुकाम और ज्वर काफ़ूर हो जाता है। सो वह बिचारा 'भोकरी' के पेड़ की खोज में दिल्ली में अधीर है! वह हमसे तुमसे, जिस-तिस से यही पूछ रहा है। कहता है : हलके हरे-हरे कटहल के पत्तों जैसे उसके भुरभुरे पत्ते होते हैं, ऊंचा-पूरा आम या महुए जैसा उसका झाड़ होता है। गुच्छे के गुच्छे हरे-हरे गोल उसके फल होते हैं, जिनका कांजी का अचार बड़ा स्वादिष्ट बनता है। पक जाने पर उसके फल बादामी रंग के खूब लसदार और मीठे होते हैं पर लोग उन्हें खाते नहीं हैं। राजधानी में उसे अच्छी से अच्छी दवाइयां उपलब्ध हैं पर उसका कहना है कि गिनकर 'भोकरी' के बारह पत्ते मिल जायँ तो वह चार-छः घंटों में एकदम चंगा है। सम्भव है जहां वह ठहरा है वहीं बाग में या सामने ही सड़क पर 'भोकरी' का बिरछा हो। क्या राजराजेश्वरी के भांडार से उसे 'भोकरी' की बारह पत्तियां नहीं मिल सकतीं? मिलनी तो चाहिए। राष्ट्र-भाषा हिन्दी का क्या कोई ऐसा शब्द-कोश नहीं है जिसमें 'भोकरी' वृक्ष के सभी प्रदेशों में प्रसिद्ध नाम एक जगह दिये हों? यदि नहीं, तो मान लीजिये कि राजराजेश्वरी का खजाना राजराजेश्वरी के खजाने जैसा भरापुरा नहीं है। उसे भरपूर बनाना हमारा आपका कर्तव्य है। अतः कबीर के पद में एक शब्द बदल कर हम भी यही कहते हैं कि :—

साधो सबद संकलन कीजै।
जासु सबद तें परघट सब भये,
सबद सबै धरि लीजै॥

प्रिय पाठक ! यह तो आप समझ ही रहे हैं कि 'भोकरी' वाला प्रसंग एकदम मनगढ़न्त है। परन्तु विश्वास मानें, वास्तविक बात इससे भी अधिक चिंतनीय है। वह अमरावती वाला भृत्य मैं खुद ही हूँ। और मामला अमरावती और दिल्ली के बीच का नहीं सागर और बनारस के बीच का है। हमारी मुसीबत कल्पित नहीं सोलहों आने सत्य रही है। जिस वृक्ष का नाम विदर्भ में 'भोकरी' है, भोजपुरी जिलों में उसका नाम 'लिटोरा' है। 'भोकरी' शब्द से तो हम आज सन् १९५८ में परिचित हुए हैं, किन्तु 'लिटोरा' शब्द से हमारी घनिष्टता कम से कम पिछले ४५ वर्षों से है। सन् १९४७ में बुन्देलखण्डी भाषा के क्षेत्र (सागर)

में आ जाने तक हम 'लिटोरा' के अतिरिक्त 'लिसोढ़ा' और 'लसोड़ा' शब्दों से भी परिचित थे। अवधी जिलों में उसे 'लिसोढ़ा' और पश्चिम में 'लसोड़ा' कहते हैं। कहीं-कहीं (पंजाब में) 'लसूड़ा' भी कहा जाता है। परन्तु सागर में बारम्बार आवश्यकता पड़ने और पूछताछ करने पर भी तीन वर्षों तक हमें लसोड़ा का पता नहीं लग पाया। फिर एक दिन बात चलने पर एक जमुनापारी सज्जन ने जो पिछले तीस-चालीस वर्षों से इधर रह रहे हैं हमें बतलाया कि इस तरफ 'लसोड़ा' को 'रुसल्ला' कहते हैं और नीमाड़ जिले में 'लभेरा'। तब तो उन्हीं आदमियों ने, जिनसे हम इस वृक्ष का विस्तृत वर्णन कर पिछले तीन वर्षों में अनेक बार पूछ चुके थे, बतलाया कि हमारे ही घर के पिछवाड़े एक ही फर्लाङ्ग की दूरी पर 'रुसल्ले' का एक झाड़ खड़ा है। उस समय हमें इन पंक्तियों में बड़ी सच्चाई प्रतीत हुई :—

काबुल गये फारसी सीखी, बोलैं मोगली बानी।
'आब आब' कहि मरिगे बेटा, धरा सिर्हाने पानी ।।

फिर तो हमने उस वृक्ष के नीचे बरसात में उगे दो पौधे ही वहाँ से लाकर अपनी वाटिका में लगा दिये जिनमें से एक अभी यहीं मेरे सामने खड़ा है, यद्यपि पिछवाड़े वाला रुसल्ला का बड़ा झाड़ गाँव वालों की कृपा से कट-कट कर न जाने कब का खतम हो गया है!

किसी चक्रवर्ती राजा के समय जब कि भारत एक राष्ट्र था और संस्कृत उस राष्ट्र की राष्ट्र-भाषा थी एक राष्ट्रीय शब्दकोश भी संकलित हुआ था। उस कोश में एक वृक्ष विशेष (लिसोढ़ा) के पाँच नाम दिये हैं :—

१. शेलु, २. श्लेष्मातक[१], ३. शीत
४. उद्दाल और ५. वहुवारक।

स्पष्ट है कि लिटोरा, लिसोढ़ा, लसोड़ा और लसूड़ा शब्द 'श्लेष्मातक' के अपभ्रन्श है और रुसल्ला 'शेलु' का, तथा भोकरी 'बहुवारक' का। सम्भव है 'शीत' और 'उद्दाल' के दो या अधिक अपभ्रन्श अन्य प्रान्तीय भाषाओं (बोलियों) में प्रचलित हों। 'अमरकोश' के निर्माण के समय भारत जैसा एक राष्ट्र था वैसा ही राष्ट्र सदियों बाद आज वह फिर हो रहा है। अतः राष्ट्र की राष्ट्रीयता

[१]कई कोश 'श्लेस्मान्तक' भी मानते हैं, किन्तु अमरकोश ने 'श्लेस्मातक' ही माना है।

को सुदृढ़ करने के लिये एक राष्ट्र-भाषा भी बन रही है। तो फिर अमरकोश जैसा एक नया राष्ट्रीय शब्द-कोश भी क्यों न निर्मित हो ?

जिस प्रकार नाम की जानकारी न होने के कारण समीप होकर भी 'रुसल्ला' बहुत अर्से तक हम से दूर ही बना रहा, उसी प्रकार बहुत दिनों तक हम यहां अत्यन्त स्वादिष्ट सब्जी 'खेकसी' से भी वंचित रहे, सागर में वह यद्यपि इफ़रात पाई जाती है। संस्कृत का 'कारवेल्ल' ही हमारा करेला है। अमरकोश में कारवेल्ल के अतिरिक्त 'कठिल्लक' और 'सुषवी' इसके दो और नाम दिये हैं। खेकसी को कहीं-कहीं—बनकरेली, भी कहते हैं। हमें तो 'कठिल्लक' का ही अपभ्रन्श 'ककोड़ा'[१] और सुषवी का अपभ्रन्श 'खुवसी' 'खुकसी' या 'खेकसी' जान पड़ता है। पूर्वी उत्तर-प्रदेश और बिहार में इसे खेकसी और पश्चिमी जिलों में ककोड़ा कहते हैं। परन्तु बहुत दिनों में मिला। सागर में प्रचलित इसका नाम है 'पड़ोरा'। अमरकोश में कड़वे परवल के चार नाम दिये हैं :—कुलक, तिक्तक, पटु और पटोल। निश्चय ही पड़ोरा 'पटोल' का अपभ्रन्श है। मीठे परवल को बंगाल में 'पटल', पूर्वी उत्तर-प्रदेश में 'परोरा' और पच्छाह में 'परवल' कहते हैं। विचार करने की बात है कि बुन्देलखण्ड में प्रचलित 'पड़ोरा' शब्द ही अधिक सार्थक है क्योंकि वह पदार्थ जिसे 'खेकसी' या 'ककोड़ा' कहते हैं करेला नहीं वरन् तीता परवल है। स्वाद करेले के समान तीता होते हुए भी आकार इसका करेले की अपेक्षा परवल के अधिक निकट होता है, और बीज इसके करेले के बीज जैसे चिपटे दाँतेदार न होकर ठीक परवल के बीज की तरह गोल-गोल होते हैं। सागर में मीठे परवल को 'परमल' और तीते परवल को 'पड़ोरा' कहते हैं। इस एक शब्द-योजना द्वारा बुन्देलखंडी ने पूरब के 'परोरा' और पश्चिम के 'परवल' को ही नहीं वरन् 'खेकसी' और ककोड़ा' को भी एक सार्थकता और सिलसिला प्रदान किया है।

शब्द-संकलन और 'शब्द-शोधन' की अपनी इस प्रकार की प्रक्रिया में हमें बुन्देलखंडी में संस्कृत के अनेक ऐसे अपभ्रन्श मिले हैं जो दूसरी बोलियों के उन्हीं संस्कृत शब्दों के अपभ्रन्श की तुलना में मूल संस्कृत शब्दों के अधिक निकट हैं। इस प्रकार के तीन-चार उदाहरण देकर हम अपनी बात अधिक स्पष्ट कर सकते हैं :—

---

[१] 'कुलक' का अपभ्रन्श 'कुकल', 'कुकड़' या ककोड़ा हो यह ही सम्भव है।

(१) संस्कृत 'धान्याक' का अपभ्रन्श बुन्देलखण्डी में 'धना'[1] है। भोजपुरी में 'धनिया' है। अन्य बोलियों में धान्याक के फल (बीज) और पत्ती दोनों ही को धनिया कहते हैं। पर बुन्देलखंडी में फल को धना और पत्तियों को थभीर कहते हैं। शब्द धना, धान्याक के अधिक निकट है। कोथमीर संस्कृत कुस्तुम्बुरु[2] का अपभ्रन्श है।

(२) संस्कृत 'तुत्था' का अपभ्रन्श भोजपुरी में तूतिया है। बुन्देलखंडी में 'थोथा' है। थोथा तूतिया की अपेक्षा तुत्था के अधिक निकट है। साथ ही थोथा उस खतरे से भी रहित है जो तनिक सी चूक से पूरा भदेसपन उद्‌घाटित कर सकता है।

(३) संस्कृत 'कलम्बु' का भोजपुरी अपभ्रन्श करेमुआ (एक प्रकार की भाजी) है। बुन्देलखंड में कलमा की भाजी होती है। करेमुआ की अपेक्षा कलमा कलम्ब के अधिक निकट है।

(४) संस्कृत 'कोटपाल' का एक अपभ्रन्श कोतवाल है परन्तु बुन्देलखंडी का 'कुटवार' शब्द उसकी अपेक्षा संस्कृत कोटपाल के अधिक निकट है।

(५) एक देहाती मिठाई भोजपुरी जिलों में 'अंदरसा' कहलाती है। संक्षिप्त-हिन्दी-शब्द-सागर के विद्वान सम्पादक लिखते हैं :—

अंदरसा : संज्ञा पुं० [फारसी अंदर + संस्कृत रस] एक
प्रकार की मिठाई।[3]

---

[1]भोजपुरी में धना, धन्या (नारी) का अपभ्रन्श है। देखिये :—

जइसे जल बिना तलफै रे मछरिया !

रामा, तइसे तइसे ना,

धना लोटैलीं सेजरिया !

रामा तइसे तइसे ना। —ग्राम्यगीत से।

[2]कुस्तुम्बुरु धनिया के चार नामों में से एक। देखिये अमरकोश : वैश्य-वर्ग, ६।३८.

[3]देखिये संक्षिप्त-हिन्दी-शब्द-सागर, पृष्ठ १२.

बुन्देलखंड में यह मिठाई इंदरसा कहलाती है। दोनों ही शब्द संस्कृत 'इन्द्राश'[1] के अपभ्रन्श हैं। इन्द्राश आर्यों की बहुत प्रिय मिठाई थी, सम्भवतः संसार की प्राचीनतम मिठाई। स्पष्ट है कि इंदरसा, अंदरसा की अपेक्षा इन्द्राश के अधिक निकट है।

इस प्रकार के अनेक और उदाहरण दिए जा सकते हैं। सम्भव है अन्य बोलियों में से भी अपभ्रन्शों के ऐसे ही उदाहरण दिए जा सकते हों। कोई यह न समझे कि हम यह प्रसंग उठाकर यह कहना चाहते हैं कि अन्य बोलियों की अपेक्षा बुन्देलखंडी में अधिक आकर्षकता या पुरातनता-प्रसूत पूतता है। भाषाओं की यह प्रवृत्ति (यानी अपभ्रन्शों का मूलशब्द से अधिकाधिक निकट बना रहना) अच्छी होती है या बुरी इसका उत्तर भी भाषा-शास्त्र विशारद ही दे सकते हैं। किन्तु यदि सचमुच यह अच्छी प्रवृत्ति है तो हमें यह कहने में संकोच नहीं है कि जिस प्रकार विन्ध्यशैल से सुरक्षित बुन्देलखंड की जन-संख्या, जलवायु और सभ्यता उत्तरी दवाव से बची रही है उसी प्रकार यहां की भाषा भी। अस्तु।

यह सब कुछ कहने का निचोड़ अब इतना है कि राष्ट्रभाषा का एक पूर्ण राष्ट्र-शब्द-कोश हो ही जाना चाहिये। यह एक विशाल कार्य है और इसमें योग देना सभी का कर्तव्य है। जितने भी व्युत्पत्ति-कोश, पर्यायवाची कोश, अनेकार्थ कोश, शब्द महार्णव उपलब्ध हों उन सब का उपयोग करना ही होगा। पर केवल इतने से काम न चलेगा। हिन्दी की विभिन्न बोलियों—ब्रज, अवधी, कनौजी, भोजपुरी, खड़ी बोली, बुन्देलखंडी, बघेलखंडी और छत्तीसगढ़ी तथा हिन्दी की इस सीमा से सटी बांगरू, राजस्थानी, मालवी, नीमाड़ी, कुमायूंनी, नेपाली, मगही और मैथिली एवं संताली आदि के अलग-अलग शब्द-कोश बनाने होंगे जिनमें तेली, कुम्हार, लोहार, बढ़ई, कुम्भकार, स्वर्णकार, कांसकार, चर्मकार, कँहार, केवट, मछुआ, धोबी, नाई, तमोली, रंगरेज आदि के व्यापारों और कार्यों से सम्बन्ध रखने वाली सभी वस्तुओं और परिस्थितियों के नाम, कृषि के सभी औजारों और कृषकों के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली सभी प्रक्रियाओं के नाम, देहाती घरों, मचानों, मंडिकाओं और टपरियों में लगने वाले सामानों के नाम तथा अन्नों, पात्रों, आभूषणों, साग-भाजियों पशुओं, पक्षियों, वृक्षों, फलों, फूलों, कीट-पतंगों, वस्त्रों आदि के नाम का संकलन होगा। जहां तक मिल सकें व्युत्पत्तियां भी दी जायं, समीपवर्ती गांवों में प्रचलित

---

[1] देखिये 'आदर्श हिन्दी-संस्कृत-कोश' (रामस्वरूप शास्त्री) पृष्ठ ३।

एक ही वस्तु के जो-जो भिन्न नाम हों उनका भी उल्लेख किया जाय। महुए के फल को भोजपुरी में कोइना कहते हैं और अवधी में उसके दो नाम हैं। पूर्वी अवधी (फैजाबाद, जौनपुर) में 'कोलइया' और पश्चिमी अवधी (सुलतानपुर, रायबरेली) में 'कोआ' कहते हैं। भोजपुरी में कोआ पके कटहल के गूदे को कहते हैं।

इस प्रकार जब विभिन्न बोलियों के अलग-अलग शब्द-कोश तैयार हो जायेंगे तब जाकर अकेला हिन्दी का पूर्ण कोश निर्मित हो सकेगा। तब फदकुली, तोरई, गिलकी, घोमड़ा, नेनुआं[1] तथा घोया, लौकी, कद्दू, तूम्बा और गड़ेलू[2] एक ही पदार्थ के ये पांच-पांच नाम एक ही स्थान पर मिल सकेंगे। इसी प्रकार के बंगला, उड़िया, असमिया, तेलगू, मलयालम, तामिल, कन्नड़, मराठी, गुजराती, पंजाबी आदि भाषाओं के पर्यायवाची शब्दों को लेकर अन्त में राष्ट्र-भाषा कोश बन सकेगा, जिसमें भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक की कुछ नितान्त मुख्य वस्तुओं के विभिन्न सभी नाम एक ही जगह प्राप्त हो सकेंगे। वस्तुतः यह एक राष्ट्रीय निर्माण-कार्य है जिसे केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय और भारतीय विश्वविद्यालयों को हाथ में ले लेना चाहिए।

[२]

दोस्त की मुसीबत—दोहरी मुसीबत !!

शब्द-संकलन के इस दुर्गम पथ का पथिक ही हो इस ओऊली में शिर डालकर हम नितान्त उपेक्षा और अपमान के पात्र बनकर पिछले दस-बारह वर्षों से एक मुसीबत में पड़े ही हुए थे तब तक हमारे एक शुभैषी जिन्हें मित्र कहिए, बुजुर्ग कहिए, बड़े भाई कहिये, अपनी एक हलकी-फुलकी सी मुसीबत लेकर सामने आये। दोस्त की मुसीबत मेरे लिए दोहरी मुसीबत बनी ! इतना ही, नहीं। मैं तो इतने दिनों से जिस रंग में रंगकर बरबाद हो रहा, उस रंग को उन्होंने और गाढ़ा कर दिया ! कहा भी है कि :—

[1] मध्य उत्तरप्रदेश का नेनुआँ गोरखपुर में घेमड़ा, पछाह में तोरई, छतरपुर के आसपास गिलकी और सागर में फदकुली कहलाता है।

[2] गोल लौकी को कद्दू या तूम्बा और लाँबी लौकी को उत्तरप्रदेश में लौकी, पछाह में घीया और बुन्देलखंड में गड़ेलू कहते हैं।

यों तो खुद इश्क में होते हैं जुनूं-खेज[1] अंदाज ।
और कुछ लोग भी दीवाना[2] बना देते हैं ॥

उन्होंने मुझे जो एक पत्र लिखा उसे ज्यों का त्यों आप भी पढ़ लें :—

बुधराम-कुटीर
सदर-होशियारपुर
१८-६-१९५७

प्रिय राजनाथ जी,

मजे में होंगे । बरसों से समाचार नहीं मिला । इधर यह तो शायद सुन चुके होंगे कि मैं एक अरसे से पंजाब चला आया हूँ ।

नये मध्य-प्रदेश का रंग-ढंग जानने-देखने की उत्सुकता है । देखें कब अवसर मिलता है ।

अच्छा, एक छोटा-सा काम मेरे लिये कर दो । मध्यप्रदेश की खानों में मैंगनोज बहुत खोदा जाता है, और विदेश भी बहुत जाता है । भारत के आर्थिक-इतिहास में उसका विशेष महत्व है । मुझे अगले दो-ढाई हफ्ते में ही उसके बारे में लिखना है । पर मैंगनीज का स्थानीय हिन्दी नाम क्या है ? पढ़े-लिखे अंग्रेजी नाम बर्तने लगे होंगे, पर पुराने लोग दूसरा नाम कहते ही होंगे । मैंगनीज की खानें और व्यापार मंडियां कहां हैं इसका पता वहां आसानी से कर सकोगे । फिर वहां के किन्हीं मित्रों से नाम का पता मिल सकेगा । जरा अच्छी तरह जांच कर लेना कि ठीक नाम ही मिला या किसी ने पूरा समझे बिना तो सूचना नहीं दे दी । और जैसे ही ठीक पता लगे मुझे सूचना देना ।

मैं १९३६ में जबलपुर गया तभी वहां के हिन्दी-सेवियों से कहा था कि भावुक या आपस्मारिक (हिस्टीरिकल) कविता, कहानियां आदि लिखकर हिन्दी-सेवा के प्रयत्न के बजाय मध्यप्रदेश के जिन खनिजों, वनस्पतियों, जन्तुओं के नाम हिन्दी शब्द-सागर में नहीं हैं, उनके नामों का संग्रह, वस्तुओं के ब्यौरे, नमूने या चित्र सहित और इस उल्लेख सहित कि कौन नाम कितने इलाकों में प्रचलित हैं, कर सकें तो यह बेहतर सेवा होगी । पर किसी ने इस पर ध्यान नहीं दिया । उनके साथ उन खनिजों की खुदाई, वनस्पतियों के संग्रह या कृषि और जन्तुओं के शिकार आदि के धन्धों में प्रयुक्त होने वाले, उन धन्धों की प्रक्रिया सम्बन्धी

---

[1]जुनूँ-खेज = बावले पन से पूर्ण । [2]दीवाना = पागल ।

शब्दों या मुहाविरों का संग्रह भी उसी प्रकार।—युनिवर्सिटी में इसी दिशा के थीसिस भी सुझाये जा सकते हैं।

खैर, अभी मुझे मैंगनीज का नाम ढूंढ़ दो। आगे वह सबकी करते रहना।

अपना समाचार कभी-कभी दिया करो। सागर युनिवर्सिटी के रङ्ग-ढङ्ग? परिवार के समाचार?

शुभाकांक्षी,

....

यह पत्र सागर से पलटकर हमें सुलतानपुर में मिला था। हमने २६-६-५८ को उत्तर में निवेदन किया कि शीघ्र ही सागर पहुँचकर पता लगाऊँगा। जुलाई में सागर आकर हमने कई मित्रों और चाँदा-भंडारा की ओर के कई विद्यार्थियों से पूछताछ की। कई पत्र उस तरफ लिखवाये गये। पर किसी से मैंगनीज के देशी नाम का पता न लगा। १६ अगस्त १६५८ को हमने अन्य बातों की जानकारी देते हुए होशियारपुर को एक पत्र लिखा जिसमें एक नादान दोस्त की दी हुई सूचना के आधार पर (नादान दोस्तों की यहाँ कमी नहीं है) यह भी लिख दिया कि मैंगनीज शब्द का मूल एक अरबी शब्द है और इस देश में इसका कोई अलग नाम शायद इसलिये नहीं है कि पहिले अरब में ही इस धातु का उपयोग हुआ था और उन्हीं के नाम दिये हुए नाम को सब जगह अपना लिया गया।

मेरे पत्र का जो उत्तर आया उसका कुछ अंश भी मननीय है:—

सदर, होशियारपुर
(अथवा साधु-आश्रम होशियारपुर)
३०-१०-५७

प्रिय राजनाथ जी,

२६-६ और १६-८-५७ के पत्र सामने हैं। दोनों के इकट्ठे उत्तर दे रहा हूँ। गत मई से अक्टूबर तक के दिन ऐसे बीते हैं कि चिट्ठी-पत्री की सुध नहीं रख सका। 'इतिहास-प्रवेश' का ५वें संस्करण के लिये दोहराना अप्रैल '५६ से शुरू कर १६४७ तक का ५-४-५७ को पूरा किया था। उसके बाद ख्याल था कि १६४७-५७ की दशाब्दी एक महीना और लेगी, पर उससे सितम्बर मध्य तक पीछा छुड़ा पाया। उसी से फिर दूसरे कार्यों का वक्त तंग हो गया।

मैंगनीज को जबलपुर-मंडला के हिन्दी-भाषी और मंडला-भंडारा के मराठी-भाषी प्रदेशों में 'धाऊ' (स्त्रीलिंग) कहते हैं। यह सूचना मुझे व्यौहार राजेन्द्र-सिंहजी से मिल गई थी। उन्हीं जिलों में वह पैदा होती है। इस प्रकार की खोज का कबीर के रहस्यवाद और आज के हिन्दी-काव्य की आपस्मारिक प्रवृत्तियों की छानबीन से मेरे विचार में अधिक महत्व है।

'भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार' मैंने तुम्हें दिया था कि उसका दूसरा संस्करण 'भारतभूमि और उसके निवासी'? 'भारतभूमि' की केवल एक प्रति मेरे पास बची है। १६-१७ वर्ष से वह बाजार में नहीं है। 'भारतीय इतिहास की रूप-रेखा' (प्राचीन काल) भी १२-१३ वर्षों से बाजार में नहीं है, पर हिन्दी वालों या देश को उन वस्तुओं की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। मेरे मध्यप्रदेश आने का अभी तो कोई रंग-ढंग नहीं, और हाथ के काम फरवरी तक छुट्टी भी न देंगे। पर उधर कभी आना हुआ हो तो एक प्रति तुम्हें फिर भेंट कर दूंगा।

शुभाकांक्षी,

....

पु०—विश्व वैदिक संस्थान वालों को सदस्यता विषयक नियमावली तुम्हारे पते पर भेजवाने को मैंने कह दिया था। मिली थी न?

इस विस्तृत वार्ता द्वारा शब्द-संकलन के कार्य की गुरुता और महत्ता के साथ-साथ उस कार्य की कठिनता का परिचय प्राप्त किये हुए पाठकों को निस्संदेह इस बात की खुशी हमारे ही समान अवश्य हुई होगी कि श्री व्योहार राजेन्द्रसिंहजी के योग से हमारे मित्र का संकट कट गया। पर हमारा संकट कौन काटेगा? हमारा संकट अकेले किसी व्यवहार, राज (राजा), इन्द्र या सिंह से कदापि नहीं कट सकेगा। हां, यदि (आर्थिक) राज-कृपा से हरीसिंह गौड़ के विश्वविद्यालय में हमारे प्रयास को किसी इन्द्र का सद्व्यवहार प्राप्त हो जाये यानी सहस्राक्ष की केवल एक आंख की अक्षता—नजरे—इनायत—प्राप्त हो जाय तो हमारा संकट भी कट सकता है और सच पूछिये तो ठीक ठिकाने का कोई कार्य भी सम्पन्न हो सकता है। तथास्तु!

●

१२ : राष्ट्र-वाणी

० ० ०

हमारी विनम्र सम्मति में समान समाज और समान संस्कृति के बिना समान भाषा की कल्पना एक मखौल जैसी ही है। सच तो यह है कि भाषा समान होते हुए भी उसे बोलनेवालों में आर्थिक, राजनीतिक, भौगोलिक तथा सामाजिक समान-स्तरता बनी रहने ही पर उसकी समान संस्कृति कायम रहती है। वह समानस्तरता खंडित हुई नहीं कि वही भाषा होने पर भी उनकी संस्कृति भिन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ भाषा एक होते हुए भी अमरीकी और आंग्ल-संस्कृति एक नहीं है। अतः, इस बात की कोई गारन्टी नहीं कि समान भाषा बनाए जाने या बनी रहने देने से समान संस्कृति भी बनाई जा सकती है या बनी रहने दी जा सकती है। इसके विपरीत संसार में ऐसे भी राष्ट्र हैं, जहां भाषा की विविधता होते हुए भी आर्थिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियां एक-सी होने के कारण विभिन्न जातियों में एक संस्कृति का विकास हो सका है। सोवियत-संघ इसका सबसे ताजा नमूना है।

इन दोनों ही परिस्थितियों से नितांत भिन्न एक तीसरी ऐसी परिस्थिति भी होती है, जब एक भाषा अपने मूल प्रदेश और उसे बोलनेवालों के बीच सर्वथा मृत होकर भी उस देश और जाति से अशेष वैर रखनेवाले प्रदेशों और जातियों के बीच जीती-जागती रहती है। सैक्सनों की भाषा सैक्सनी प्रदेश में मृत होकर भी आंग्लों के बीच अंग्रेजी भाषा में अब तक फल-फूल रही है। सही बात यह है कि किसी भी भाषा को देखिए, उसमें परिवर्तनों की धारा एकमात्र उस भाषा की ऐतिहासिक परम्पराओं द्वारा स्वभावतः निर्णीत दिशाओं ही में प्रवाहित होती है। उस प्रवाह की दिशा के निर्धारण में उस भाषा के भाषियों की जातीय मनोभावनाओं और मनोरथों अथवा बहुमती उछल-कूदों और ऊटक-नाटकों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा करता। इन सब बातों को ध्यान में रखकर इतना तो निश्चय के साथ कहा ही जा सकता है कि यदि राष्ट्रभाषा के कल्पित स्वप्न को वास्तविकता का रूप देना है, तो हमें विशाल भारत की बहुजाति-भाषा-संस्कृति की अनेकरूपता के भीतर एक सामाजिकता और एक सांस्कृतिकता की प्राण-प्रतिष्ठा करनी होगी।

हमारी राष्ट्र-भाषा के दृष्टिपथ को राष्ट्र की विशालता के अनुपात ही में विस्तृत और प्रशस्त होना होगा। हमारा राष्ट्र कितनी भाषाओं, संस्कृतियों, लोक-रुचियों, परम्पराओं तथा भांति-भांति के पशु-पक्षियों, वृक्ष-वनस्पतियों, फल-फूलों तथा नद-नदी-निर्झरों और वन-पर्वत-पठारों की मोहक सुषमाओं और समारोहों की अनुपम रंगशाला है! इन समस्त अनेकरूपताओं में एक राष्ट्रीय समरसता लानी होगी, तभी हमारी वाणी में राष्ट्र के प्रत्येक कोने का निवासी कुछ अपनी धुन भी पा सकेगा और तभी समूचे राष्ट्र की एक सच्ची राष्ट्र-भाषा भी हो सकेगी।

बलजाक ने अपने एक उपन्यास में लिखा है :—'फ्रांस में—सब देशों से बढ़कर फ्रांस में—स्थापत्य, संगीत और काव्य, संक्षेप में सभी कुछ उस समन्वय-सिद्धान्त पर टिका है, जिसे दूसरे शब्दों में 'वस्तुओं की परस्पर एक दूसरी के साथ संगति' भी कह सकते हैं। यह (संगति या सहमति) उस (फ्रांस) की स्पष्ट और चुस्त भाषा की नींव ही में अंकित है। कोई भाषा हो, उसे उस (राष्ट्र) के राष्ट्रीय गुणों का अचूक दर्पण होना ही चाहिए। विचारों की स्पष्टता और धारणाओं की बौद्धिक सरलता उन्हें (फ्रांसीसियों को) आकृष्ट करती है। तीव्रता-पूर्ण व्यंजक सूक्तियां, जिनमें बहुतेरे भाव भरे होते हैं, उन्हें पसन्द हैं। उनकी सामाजिक मानसिकता मास्को हो या लंदन, जिनीवा हो या कलकत्ता, सर्वत्र एक-

सी कायम रहती है। फ्रांस में जनता जब भी क्रांति के लिए उठी है, लोक, शासन और आदर्शों के बीच सामंजस्य स्थापित करने के लिए ही। संसार के समस्त देशों में अकेला फ्रांस ही ऐसा है, जहां एक जरा-सा फिकरा (लघुवाक्य) महाक्रांति उत्पन्न कर देने की क्षमता रखता है।'

सच ही राष्ट्रभाषा के एक 'लिटिल फ्रेज' एक नन्हें-से फिकरे में महाक्रांति मचा देने की क्षमता होती है। किसी दिन हमारे यहां भी महात्मा गांधी के मुंह से एक फिकरा निकल पड़ा था : 'करो, या करो !' और बस, एक महाक्रांति उठ खड़ी हुई थी। उनकी वाणी राष्ट्र-वाणी थी, क्योंकि वह राष्ट्र-पुरुष (राष्ट्र-पिता भी) थे। हमारे दोनों पुराने राष्ट्र-पुरुषों—राम और कृष्ण के नाम आज तक किस आदर के साथ धारण किए जा रहे हैं, इसका अनुमान देशभर के समस्त पुरुषों की (बालकों की भी) नामावाली तैयार करके लगाया जा सकता है। पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में अपने देश में पैदा हुए बालकों के नामों में प्रतिशत संख्या-धिक्य की दृष्टि से राम और कृष्ण के बाद शायद मोहनदास गांधी, जवाहर और सुभाष ही का स्थान होगा। ऐसे लोगों की वाणी भी राष्ट्रवाणी है। राष्ट्र-पुरुष की वाणी राष्ट्र-वाणी होती ही है।

उत्तर में हिमालय बहुत ऊंचा है, जिससे पूरब-पच्छिम और दक्षिण में उत्तर का ढलाव स्वाभाविक है। ऐसे भी उत्तर ही हिमकिरीटिनी (भारत-माता) का ललाट माना गया है। उनकी केश-राशि भी निम्नगा है। अतः उत्तर की लहर-बहर का दक्षिणवर्तिनी होना स्वाभाविक है। बीच में विंध्य का अवरोध न होता, तो हिमालय का पानी सीधे दक्षिण महासमुद्र के तट पर टकराता। पर, याद रखिए, हिमकिरीटिनी का युग-पद तो दक्षिण ही है। अतः, उत्तर का सारा स्वर्ग (स्वर्ग भी) ठोस दक्षिण ही पर अवलंबित है। जीवन-रस-दायिनी मिट्टी की ऊष्मा भी पैर ही से होकर समूचे शरीर में संचरित होती है। आमीन ! ऐसा ही हो !! ऐसा होने ही से सारे राष्ट्र में सरगर्मी बनी रहेगी।

प्राचीन काल से मान्य समूचे भारतवर्ष की सात पुरियों में से तीन—अयोध्या, मथुरा, काशी उत्तर प्रदेश ही में हैं और सब तीर्थों के राजा प्रयागराज भी वहीं ! समग्र राष्ट्र को एकता की भावना में बांध रखनेवाली सात मोक्षदायिनी नदियों में भी तीन वहीं हैं। इसी कारण उत्तर भारत या आर्यावर्त तीर्थों का प्रदेश रहा है। भारतवर्ष की कोई भाषा ऐसी भाषा नहीं, जिसे बोलनेवाले काशी में न मिलें। हमारे मित्र प्रोफेसर श्री मल्लिकार्जुन ने बतलाया कि कुछ दिन हुए वह अपने एक

बंगाली मित्र के साथ बनारस गए थे और किसी महाराष्ट्र मित्र के घर ठहरे थे। गंगा-स्नान के बाद विश्वनाथ की गली ऊदबत्ती, खिलौने आदि लेने के लिए वे तीनों एक दूकान पर रुक गए। दूकानदार ने (जो साक्षर नहीं जान पड़ता था) इन लोगों के अंग्रेजी में परस्पर बोलने से ही इनकी मातृभाषा का अंदाज लगाकर श्री मल्लिकार्जुनजी से तमिल में, बंगाली महाशय से बँगला में तथा महाराष्ट्र सद्गृहस्थ से मराठी में संभाषण किया। हमें विश्वास है कि एक दिन आयगा, जब हमारे काशी, प्रयाग (मथुरा के पड़ोसी) आगरा तथा (अयोध्या के पड़ोसी) लखनऊ के साहित्य-देवताओं की गलियों के दूकानदार लोग भी, और यदि वे नहीं तो कम से कम उन देवताओं के अनुचर-परिचरगण तो अवश्य ही, बंगाली के साथ बँगला में, आंध्र के साथ तेलगू में, महाराष्ट्र के साथ मराठी में, मलयालम में, कन्नड़ में, गुजराती में बातचीत कर सकेंगे। उस दिन जानिए कि राष्ट्रभाषा का स्वर्णिम विहान हो गया।

परन्तु, अभी तो विहान के पूर्ववाली घनी-अंधेरी रात है और इस रात्रि ही में लंबा रास्ता तय करना है। और अब पुराने तीर्थ-स्थलों के पर्यंक-पंडितों को भी नए तीर्थों की यात्रा का पुण्य अर्जन करना है, क्योंकि, अब बहुत से नए तीर्थ स्थापित हो गए हैं। विन्ध्याचल अब अवरोध नहीं रहा। अब तो वह सुषमा का स्थान है और उत्तरवालों को दक्षिणगामी होने के लिए समस्त सुविधाओं सहित आह्वान कर रहा है, पुराने दशार्ण[१], चेदि[२], किलकिला[३], डाहल[४], मेकल[५], महाकांतार[६], झारखंड[७], अवंति[८], माहिष्मती[९], विदिशा[१०] एवं चरणाद्रि[११],

[१] दशार्ण-धसान। धसान नदी सागर जिले के जिस भूमि-भाग में होकर बह रही है, उसका पुराना नाम दशार्ण था।

[२] चेदि, जिसे विंध्यशैल (बुन्देलखंड) भी कहा जाता था।

[३] किलकिला वर्तमान पन्ना, बिजावर छतरपुर आदि का पुराना नाम है।

[४] डाहल—वर्तमान जबलपुर कमिश्नरी।

[५] मेकल—वर्तमान छत्तीसगढ़।

[६] महाकांतार—रायपुर, सरगुजा आदि।

[७] झारखंड—वर्तमान जगदलपुर।

[८] अवंति—उज्जयिनी।

[९] माहिष्मती—नीमाड़, होशंगाबाद।

[१०] विदिशा—भेलसा, जिसमें वर्तमान भोपाल भी सम्मिलित था।

[११] चरणाद्रि—चंदेरी दुर्ग।

और गोपाद्रि[1], आदि देशों का संयोग आज जिस महाकोशल प्रदेश से हुआ है, उसमें अब केवल एक पुरानी पुरी अवंतिका (उज्जयिनी) ही नहीं, अपितु, वह सात-सात पुरों—इंदुपुर (इंदौर), गोपालपुर (ग्वालियर), जाबालिपुर (जबलपुर), श्रीपुर (सीरपुर), नृसिंहपुर (नरसिंहपुर), बिलासपुर और रायपुर तथा तीवर (त्रिपुरी), सीपरी (शिवपुरी और तीसरी अवंतिका) आदि पुरियों से सम्बन्धित है। नदियों में भी अब महानदी, दामोदर, हीराकुड, रेणुका[2] आदि असामान्य महत्त्व प्राप्त कर चुकी हैं। सिंदरी, चितरंजन, भाकरा-नंगल, भिलाई, रूरकेला, कोनार, कोदाईकनाल आदि नए-नए तीर्थ-स्थान स्थापित हो रहे हैं। हमें अब पवित्र पुरों, पुरियों और नगरम् आदि तीर्थों और पुण्यतोयाओं को नए सिरे से श्रेणीबद्ध करना होगा। अब तो 'तीर्थराज' भी संभवतः प्रयाग से दिल्ली चले गए हैं और वहां ममियौरा[3] में पूर्ण आश्वस्त भी हैं आज यह कौन स्वीकार नहीं करेगा कि दिल्ली भी एक दृष्टि से आधुनिक तीर्थराज है। और कुछ न सही, इसके राजघाट ने तो तीर्थराजत्व प्राप्त कर ही लिया है। अभी थोड़े दिन हुए कि उस तीर्थराज में श्री फीरोज खां नून भी अपनी माला चढ़ा गए हैं।

यह सब कहने का उद्देश्य यही है कि राष्ट्र के अधिकाधिक प्रदेशों और वहां के जन-जीवन से हमारा संपर्क बढ़े। जिसका यह संपर्क जितना ही अधिक होगा, उसकी वाणी उतनी ही अधिक राष्ट्रवाणी होगी। दूसरे शब्दों में वह उतना ही अधिक राष्ट्र-पुरुष होगा। राष्ट्र-पुरुष होने के पहले इस बात का विश्वास हो जाना अनिवार्य होता है कि दूसरे किसी भी प्रांत के हमारे पड़ोसी हमसे किसी बात में भिन्न नहीं हैं। सत्रहवीं शती के अंतिम वर्षों में, जब 'ना तूसम की

---

[1]गोपाद्रि—ग्वालियर दुर्ग।

[2]रेणुका या रेणु शोणभद्रा में मिलनेवाली एक नदी, जिसे शुद्ध रेणु न कह सकने के कारण अंगरेज रेहंड कहता और (Rehand) लिखता था। इस नदी पर एक बड़ा बाँध (dam) बँध रहा है। आज भी उसे रेणु-बंध न कहकर 'रेहंडम' ही कहा जा रहा है।

[3]ममियौरा—मामा का घर। मामा के घर भानजों को दूब की छड़ी से भी छूना वर्जित है। ऐसी मान्यता है कि भानजे को मारने से मामा के हाथ मे कंपन रोग हो जाता है। इसी कारण ममियौरा मे पाले-पोसे बच्चे पुष्ट और निडर होते हैं। त्यागमूर्ति स्व० मोतीलालजी नेहरू की ससुराल दिल्ली बताई जाती है।

राजाज्ञा'[१] की मंसूखी के कारण फ्रांस का प्रायः सभी संभ्रांत 'ह्यू जेनाट्स' समुदाय देश छोड़कर अन्य देशों में चला गया। उस समय फ्रांस के उद्योग और व्यापार को जो धक्का लगा था, उसकी क्षतिपूर्ति बहुत दिनों तक नहीं हो पाई। किन्तु, दूसरी ओर उस घटना से एक लाभ भी हुआ। उन भागे हुए लोगों में जो कलम के धनी थे, उन्होंने जीविकोपार्जन के लिए कलम का सहारा लिया और इस प्रकार उनकी लेखनी से उन अनेक देशों के संबंध में, जिन देशों की उन्होंने यात्रा की थीं और जिन देशों में वे निवास कर रहे थे, फ्रांसीसी भाषा में महत्त्वपूर्ण प्रचुर साहित्य निर्मित हुआ। उस साहित्यिक-बहुदेशीयता या बहुप्रादेशिकता (literary cosmopolitanism) के कारण ही शब्द 'लिंगुआ फ्रांका' (फ्रांस की भाषा) राष्ट्र-भाषा का आज तक पर्यायवाची बना हुआ है। अच्छा होता, यदि हमारे साहित्यिक स्वेच्छा ही से एक निश्चित अवधि (कम से कम पांच वर्ष) के लिए अपने से अतिरिक्त किसी अन्य प्रांत में अपना निवास अनिवार्य बना डालते। साहित्यिक न होते हुए भी केवल हिन्दी के अध्यापन-कार्य के लिए हमने तो दो-दो बार स्वेच्छा से सपरिवार अपना निर्वासन धुर दक्षिण में और देश की अंतिम उत्तरी सीमा में कबूल किया था। किन्तु, दोनों ही बार हमारे कुछ अतिशुभैषी महानुभावों ने पैर पकड़कर ऐसा पीछे घसीट दिया कि हम अपना-सा मुंह लेकर रह गए।

पुराने समय में साहित्य-स्रष्टा के लिए नद-नदी, पर्वत-समुद्र आदि का दर्शन अनिवार्य था। तब मार्ग प्रायः पैदल चलकर ही पार किए जाते थे और रास्तों में अनेक हिंस्र पशु और बटमार मिलते थे। परंतु, आज तो यात्रा की अपार सुविधाएं हैं। फिर यह अभाव क्यों? सुनते हैं कि दीमकों का बिमौर जमीन के ऊपर जितना होता है, उसके बराबर ही या उससे भी अधिक नीचे पानी की सतह तक उसकी नींव रहती है। गर्मी के दिनों में दीमकों की उस 'रिपब्लिक' के प्रत्येक 'नागरिक' को एक के पीछे एक होकर नीचे पानी की सतह से ऊपर बिमौर की चोटी तक भीतर ही भीतर लगातार यात्रा करते रहना होता है। इसके परिणामस्वरूप उनके रोएंदार पैरों में लगी जल की नमी से वह सारा पथ नम और शीतल बन जाता है, और बाहर जब झुलसा देनेवाली लू चलती रहती है, उस समय दीमकों की दुनिया के समस्त प्राणी शिमले और नैनीताल की

---

[१] Revocation of the Edict of Nauses by Louis XIV in 1685.

शीतलता का मुख्य सुख प्राप्त करते रहते हैं। सामाजिक संगठन से प्राप्त होनेवाले अपार-सुख-सुविधा का यह एक अद्भुत उदाहरण है। उत्तर से दक्षिण और दक्षिण से उत्तर संस्कृति, सुरुचि, सहयोग और सद्भावना की अब ऐसी ही अखंड यात्रा हमारी भी आरंभ हो जानी चाहिए, जिससे घर-घर, गांव-गांव और नगर-नगर हमारी समस्त भिन्न रूपताओं के ऊपर एक सांस्कृतिक और राष्ट्रीय समरसता सर्वत्र लहरा उठे। हमारी वाणी में भी हमारी उस राष्ट्रीय एकता के स्वर गूंज उठें। क्या हम दीमकों से भी गए बीते हैं?

●

१३ : एम० पी० साहेब

० ० ०

श्रीयुत मनोहरप्रसाद वल्द श्री चन्दनप्रसाद बहुत दिनों तक तो मिस्टर एम० प्रसाद कहलाते रहे, किन्तु, उनके जीवन के जिन पिछले एक-दो वर्षों की झाँकी हमें प्राप्त हुई थी, उन दिनों वह एम० पी० साहेब कहे जाते थे। इस कहानी का भी एक मनोरंजक इतिहास है। जो आगे अपने आप स्पष्ट हो जायगा। अभी तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह अपने लिये अब इसी नाम का संबोधन पसंद करते थे। इसीसे उनका यह नाम चल पड़ा था।

एम० पी० साहब एक असाधारण आदमी थे। वेश-भूषा में पूरे आधुनिक और वैज्ञानिक। रूप-रंग में भी कम न थे। पर अंतरंग में वह प्रत्यक्ष और अनुमान; दर्शन और विज्ञान; निंदा और बखान; तथा स्थिरता और तूफान के एक ऐसे अष्टधातु थे कि उनके व्यक्तित्व के कंचन को कसने में कुशल से कुशल

स्वर्णकार के छक्के छूट जाते थे । वह बहुत कुछ थे अपने शब्दों में, सब—कुछ थे अपने घर वालों के शब्दों में, और क्या नहीं थे, हमारे आपके शब्दों में ! सच तो यह है कि उनके सम्बन्ध में सबसे बड़ी मुसीबत यही थी कि कोई भी निश्चित् रूप से कभी यह नहीं कह सकता था कि वह क्या नहीं थे ! रह-रहकर उनमें से एक ऐसा अजूबा और अनसोचा रूप फूट पड़ता था कि सभी हैरान और परेशान रह जाते । संक्षेप में, वह विद्वान् भी थे और पहलवान भी; मोम भी थे और पाषाण भी; सयाने भी थे और नादान भी ! और ? क्षमा कीजियेगा, पास आइए, तो कान में कह दूं, 'वे इनसान भी थे और हैवान भी !'

यह इनसान और हैवान वाली बात खुद उन्हीं की कही हुई है । वस्तुतः यह उनकी एक अद्भुत वैज्ञानिक खोज थी और इस खोज का उनको काफी फख्र भी था ।

अध्यापक पूर्णसिंहजी ने अपने किसी निबंध में लिखा है कि 'राजा में फकीर छिपा है और फकीर में राजा । बड़े से बड़े पंडित में मूर्ख छिपा है और बड़े से बड़े मूर्ख में पंडित । वीर में कायर और कायर में वीर सोता है; और पापी में महात्मा और महात्मा में पापी डूबा हुआ है ।' एम० पी० साहब का भी ठीक इसी वजन पर यह कहना था कि हैवान में इनसान और इनसान में हैवान छिपा हुआ है । यह कहकर कि उनके मूरिस (पूर्वज) लंगूर थे, डारविन साहब हकीकत (वास्तविकता) से निहायत दूर रहे हों या नजदीक रहे हों, यह बात अलग है[1] पर, डारविन का विकासवाद वाला सिद्धान्त यह साफ-साफ कहता है कि एक समय था, जब दुनिया में इनसान नहीं था, केवल हैवान ही थे; और हैवान ही में जो भविष्य का इनसान सात तालों के अन्दर छिपकर बैठा था, वही बहुत-सा समय लेकर धीरे-धीरे इनसान के रूप में विकसित हुआ । डारविन के इस विकासवादी विश्लेषण को एम० पी० साहब सृष्टि के विकास-सिद्धान्त का एक अधूरा पक्ष ही मानते थे । उनकी अप्रतिम मौलिक प्रतिभा उन्हें डारविन से करोड़ों कोस आगे ले जाकर सूचीभेद्य तिमिर से आच्छन्न जीव-सृष्टि के भविष्य की उस गहन गुफा के कोने-कोने झँका लाई थी, जहां पहुँच सकने में बड़े-बड़े त्रिकालज्ञ ऋषिमुनियों की दिव्य दृष्टि भी सदा से असफल ही होती रही है ?

---

[1]डारविन साहब हकीकत से निहायत दूर थे ।
मैं न मानूँगा कि मूरिस आपके लंगूर थे ।

हमारे इन अभिनव-डारविन श्री एम० पी० साहब की मान्यता थी कि दुनिया में जब सुदूर अतीत में इनसान नहीं, केवल हैवान ही थे, उस समय हैवान ही में छिपा बैठा इनसान विकसित होकर, स्वरूप ग्रहण करने के लिए जैसे छटपटा रहा था, और कालांतर में विकसित होकर ही रहा, उसी प्रकार अति दूर भविष्य में जब इनसान के हाथों सारे हैवान नष्ट हो जायंगे, तब इनसान ही में छिपा बैठा आज का अस्पष्ट हैवान विकसित होकर स्वरूप प्राप्त करने के लिये छटपटाने लगेगा। अतः, यह संभाव्य ही नहीं, एक निश्चित् सत्य है कि कालांतर में इनसान को दबाकर इनसान ही में हैवान की सारी नसलें विकसित होंगी और दुनिया में एक बार फिर से हैवान ही हैवान विचरण करेंगे। विकासवादी सिद्धान्त कहीं तब जाकर अपनी पूर्णता को प्राप्त करेगा ! हरि ॐ तत्सत् ! ! कहिए, कैसी रही ? हमारे एम० पी० साहब की प्रतिभा का पखेरू वैज्ञानिक कल्पनाओं के अनन्त आकाश में गरदन उठा और फड़फड़ा कर जब भी कभी उड़ पड़ता था, तब ऐसी हो ऊंची उड़ानें मारता, सितारों के आगे के जहानों को कौड़ियां लेकर ही लौटता था !

[२]

हमारे एम० पी० साहब एक बड़े 'गार्जियाना' स्वभाव के सत्पुरुष थे। आप पूछेंगे कि यह 'गार्जियाना' कौन-सी चिड़िया है ? 'गार्जियन' शब्द से तो आप परिचित ही होंगे ? गार्जियन कहते हैं, संरक्षक, अभिवावक या देख-रेख करने वाले को। इसी गार्जियन शब्द से हमने 'गार्जियाना' बना लिया है। जैसे सूफी से सूफियाना; वहशी से वहशियाना और शादी से शादियाना। पास-पड़ोस के नवयुवकों का 'गार्जियन-ग्रेटिस' अर्थात् निःशुल्क अभिभावक बन जाना वह अपने जीवन का एक प्रमुख कर्त्तव्य समझते थे। बात तो यह है। वह अपने इस परम पावन कर्त्तव्य का पालन पूर्ण निष्ठा के साथ करते थे।

जिस कारखाने में वह काम करते थे, वहां से उन्हें खासी अच्छी तनख्वाह मिलती थी। जिम्मेदारियां भी उनके सिर पर कुछ खास न थीं। वहां जो काम दूसरों की देख-रेख करने का उनके सिपुर्द था, उसकी खानापूरी वह चुटकी बजाते कर लिया करते थे। फिर उनके गार्जियाना स्वभाव में हर जगह अपने पक्ष में एक गिरोह खड़ा कर लेने की क्षमता थी। जमाना ही कुछ ऐसा है। अनेक चतुर लोगों का कथन है कि कोरमकोर सदाचार, योग्यता, स्वाभिमान और ईमानदारी ही से आज किसी का काम अच्छी तरह चल नहीं सकता। दूसरी तरफ

अगर कोई एक तगड़ा गिरोह किसी के साथ है, तो सदाचार, योग्यता, स्वाभिमान और ईमानदारी न होने पर भी उसका कोई काम रुक नहीं सकता। एम० पी० साहब दुनिया-देखे आदमी थे। गिरोह की इस महिमा को खूब अच्छी तरह जानते थे। इसी के प्रताप से कारखाने का प्रबन्धक उनसे बराबर दबा रहता था और यह कुछ भी काम करें या न करें इनकी तरफ उंगली उठाने की उसकी कभी हिम्मत नहीं पड़ती थी। फिर गार्जियाना ठाट बाँधने के लिए जो चीजें सबसे अधिक जरूरी हुआ करती हैं, उसकी एम० पी० साहब के पास कमी नहीं थी। यानी समय उनके पास काफी था। प्रतिदिन की लंबी शामें—क्योंकि एम० पी० साहब कारखाने से रोज तीन ही बजे अपना काम पूरा करके घर लौट आते थे—छुट्टियों के दिनों के पूर्व को रातें, और छुट्टियों का सारा दिन, चैन की बंशी बजाने के लिए उनका अपना ही था।

नौजवनों से उनकी खास तौर से अच्छी पटती थी। मुहल्ले में रहनेवालों में जिनके अपना कोई बुजुर्ग न होता, खटाक से उनका गार्जियन बनकर बड़ी तत्परता से उनकी देख-रेख आरम्भ कर देने की साहब की आदत पड़ गई थी। किसी को मकान बदलना हो, तो एम० पी० साहब उसके साथ दो-चार दिन शहर की खाक छानने के लिए तैयार ! किसी को दो-चार दिनों के लिए कहीं बाहर जाना हो, तो उसकी अनुपस्थिति में उसके घर और सामान और उसके बाल-बच्चों की देख-रेख का सारा भार अपने ऊपर ले लेने के लिए वह पूर्णतया कटिबद्ध ! आपको नौकर की जरूरत है, तो किस तरह का नौकर आपके यहाँ होना चाहिए इसकी चिंता आपको कभी करनी नहीं पड़ती थी। धोबी नालायक है, दरजी शैतान है, घोसी दूध में मंजूर हुए एक-चौथाई से कभी-कभी ज्यादा पानी मिला देता है, डाकखाने के सेविंग-विभाग का अमुक बाबू बेवकूफ है, ठंढ के दिन आगए हैं, सरदी बढ़ रही है, आपके बच्चे को जुकाम न पकड़ ले, आपको इन सब बातों की चिंता या जानकारी भले ही न हो, एम० पी० साहब तो आप ही के लिए इन सारी चिंताओं में दिनरात चकनाचूर रहते। आपका कहीं कोई खास काम होना है। बस आप जिक्र-भर कर दीजिए और देखिए कि कहां-कहां के किन-किन आदमियों के जिगरी दोस्त एम० पी० साहब निकल आते हैं। और आप जिक्र भी क्यों कीजिए ? वह तो आपके कभी कुछ कहे-सुने बिना ही आपको बतलाते रहते थे कि अब यों बढ़ो, यह करो, वह करो ? और फिर कहां किससे क्या कहना या कहलाना है, इसके जोड़-तोड़ में वह खुद ही लग जाते थे। अकसर अपने साथियों की तरफ से, बिना उनकी जानकारी ही के, औरों से जरूरत-बे-जरूरत

तकरार मोल ले लेने में भी वह संकोच नहीं करते थे। सारांश यह कि उनके जीवन का सारा समय साथियों की किसी-न-किसी समस्या को जन्म देने या उसे हल करने की चिंता ही में बीतता था। चिंता अगर उन्हें नहीं थी, तो केवल इस बात की कि उनको इतनी अहेतु की सरगरमी से उनके साथियों का कितना हित होता था या कितनी हानि।

[३]

वह मुँह फाड़-फाड़ कर पान चबा सकते थे। दिलदहाड़ कहकहे लगा सकते थे। छुट्टी के दिन अगर किसी साथी के दरवाजे पर बैठ गए, तो बिना किसी उकताहट के, शाम तक वहाँ जमे रह सकते थे। प्याली पर प्याली चाय की, ठंडी या गरम चाहे जैसा भी हो, पीकर, हँसते-हँसाते वह सारा का सारा दिन बिना थकान के गुजार सकते थे। यह बात नहीं कि नाश्ते-पानी का समय वह प्रायः दूसरों के ही यहाँ बिताते थे। कभी-कभी शाम को अपने घर भी वह दरियादिली से चाय पीते और पिलाते थे! कुछ खूबियाँ उनमें ऐसी थीं, जिनसे उनका साथ, चाहे कितनी भी देर तक रहे, भार-रूप नहीं हो पाता था। एक तो वह समय के ऊपर 'गेंडुर' मारकर ऐसी निश्चिंतता से बैठते, जैसे चित्रों में ब्रह्माजी कमल पर आसन जमाए दिखाई देते हैं। दूसरे जो जादू किन्हीं की आँखों में बताया जाता है, वह उनकी जुबान ही में था! एक बात कब खतम होती और एक दूसरी उसमें से कब फूट निकलती थी, इसका किसी को ठीक उसी तरह पता न मिल पाता, जिस तरह आतिशबाजी की चरखी में एक छछून्दर के चुकते-चुकते उसके दूसरे पुंगे में दूसरी कब कैसे आग पकड़ लेती है, यह किसी को भी मालूम ही नहीं हो पाता और एक के बाद एक छछून्दर छूटती ही रहती है!

एम० पी० साहब जब चलते-फिरते होते, उस समय भी अपने व्यक्तित्व का जादू बखेरते रहते थे। 'कहो यार'! कहकर जब वह कंधे में हाथ डाल देते या यदि आप भी उन्हीं के समान भारी-भरकम हुए, तो बाँह में बाँह डालकर टहलने लगते, अथवा कभी दूर ही से पुकार कर, हाथ उठाकर, जाते हुए आपको रोककर, नाचती और मटकती हुई आँखों से दिल खोलकर पास आ जाते, तब यही लगता था कि वह न जाने कितनी गूढ़ एवं ममत्वपूर्ण बातें एक साथ ही आप पर उड़ेल देना चाहते हों! मानो उनका दिल उछलकर बाहर आप में मिल जाने के लिए मचल रहा हो! किन्तु, जितनी उत्सुकता वह आपमें पैदा कर देना चाहते, उतनी उत्पन्न न होने पर, अथवा जितनी जिज्ञासा आप में उत्पन्न हो जाती, उसके अनु-

पात में उनसे कुछ खास बात सुनने की आपकी उत्सुकता होने पर एकाएक वह ऐसे ठप हो जाते, मानो उनका सारा-का-सारा ढेर-भर सोचा-सोचाया अकस्मात् कहीं गुम हो गया हो। जैसे खूब फूले हुए फुग्गे में सुई की नोंक चुभ गई हो! वास्तव में एम० पी० साहब अपनी ओर से देना जानते नहीं थे। उनकी कोशिश यही रहती कि दूसरे के पास जो कुछ बात हो, वह उसे झटपट उनके पास जमा कर दे। वह रायबहादुर बाबू रामगरीबलाल के उस मुफस्सिल बैंक की तरह थे, जो रुपया जमा करने के लिए खोला गया था, और जब लोग रुपए निकालने लगे, तो एकदम फेल हो गया।

उनका कहना था कि मानव-जीवन में खुशदिली और भलमनसाहत से बढ़कर कीमती कोई भी गुण, हुनर, योग्यता या हुस्न नहीं है। इससे बढ़कर कोई दूसरा सदाचार भी नहीं है। अतः, मानव का सबसे प्रमुख यही कर्तव्य होना चाहिए। जीवन का कितना ऊंचा आदर्श है यह! अपने इस सिद्धांत के अनुसार उन्होंने निज के व्यवहार के लिए दो मोटे उसूल बना लिए थे। जैसे कुछ लोगों का यह कहना है कि तुम अपना सुधार करो, दुनिया अपना सुधार खुद कर लेगी, वैसे ही एम० पी० साहब का कहना था कि दुनिया का सुधार करो, तुम्हारा सुधार दुनिया खुद कर देगी। उनका दूसरा उसूल भी ऐसा ही चोखा था, वह किसी एक बात और किसी दूसरी बात में कोई अंतर नहीं मानते थे। आपको पूरा विश्वास देकर, बिना सेंध या सीढ़ी लगाए आपके दिल में घुसकर, आपके मर्म की सारी बातें जान लेना और आपकी गोपनीय से गोपनीय बात को, जहाँ जैसी उनकी इच्छा हो उसके अनुसार, वितरण करते रहना वह अपना अधिकार समझते थे। उनके इस व्यवहार से अगर कोई दोस्ती में ठेस लगना समझता, तो साहब को ऐसी दोस्ती का बोझा ढोना गवारा नहीं था। ऐसा बोझ अपने शिर से उतार फेंकने में वह कभी किसी प्रकार का संकोच नहीं करते थे। सच तो यह है कि दोस्त शब्द ही से उन्हें कुछ चिढ़-सी थी। शायद किसी विद्वान् की यह उक्ति उन्होंने कभी सुन पाई थी कि फारसी वालों ने संस्कृत के 'दुष्ट' शब्द ही को 'दोस्त' करके अपना लिया है। दुनिया में कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो जिसे दुष्ट समझते हैं, उसी को दोस्त कहते हैं! अतः, एम० पी० साहब केवल 'यार' या 'सखा' या 'साथी' शब्द ही को स्वीकार करते थे। जिस स्नेह से 'कहो यार' कहकर वह गले में बाहें डाल देते थे, कौन होगा, जो उस अदा पर सौ-सौ जानें निछावर न कर डालना चाहता?

[४]

ऐसे तो एम० पी० साहब के जीवन का एक-एक दिन एक-न-एक नया अफ-

साना था, इस कारण बहुत-सी मजेदार बातें इकट्ठा हो गई हैं और इधर जब से हाल में दूरवर्ती एक नगर में उनके एकाएक यारों के बीच बैठे-बैठे संसार से विदा ले लेने का दु:सह समाचार मिला है, कलेजा मुंह को आरहा है और वे सारी बातें एक-एक करके आंखों के सामने नाच रही हैं, फिर भी वे सब की सब न हम सुना ही पायंगे और न आप सुनते ही रहेंगे। उनके साथ अपनी आखिरी मुलाकात वाले दिन की इतनी याद आरही है कि उसी दिन की बातें सुनाकर हम आपके साथ भगवान से उनकी सद्गति के लिये प्रार्थना करेंगे। तब मेरा तबादला एक नगर से एक दूसरे नगर के लिए हो चुका था और मैं वहां 'ज्वाइन' होकर वहाँ से एक महीने बाद परिवार वालों को साथ ले जाने के लिए पिछले नगर में आया हुआ था। जीव सृष्टि और विकासवाद-सम्बन्धी एम० पी० साहब की जिस मौलिक और अनोखी सूझ का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, उसकी जिन दिनों उनके हमजोलियों में बहुत चर्चा थी, उन्हीं दिनों की बात है। शायद आपको यह बताना हम भूल ही गए कि एम० पी० साहब का यह निश्चित् मत था कि मानव-कुल का प्रत्येक व्यक्ति मनुष्य होने के साथ ही साथ एक-न-एक पशु भी होता है और वह उसी हैवान की खसलत रखता है। यानी कोई इनसान घोड़ा होता है, तो कोई इनसान बैल; कोई इनसान भैंसा, तो कोई इनसान भेड़; कोई इनसान ऊंट, तो कोई इनसान गधा; कोई इनसान लकड़-बग्घा, तो कोई इनसान भेड़िया; कोई इनसान शूकर तो कोई इनसान श्वान, और कोई-कोई इनसान सिंह भी होता है! व्यक्तियों की पाशविक कोटि का अनुसंधान कर डालने की साहब में अप्रतिम क्षमता थी। अतः, उनकी हमजोली के लोग आपस में एक-दूसरे की हैवानी-नस्ल पर प्रकाश डालने के लिए साहब से अकसर निवेदन करते और साहब भी काफी रस लेकर बड़ी बारीकी के साथ उन लोगों के मनुष्य में छिपे हुए उनके पशु की योनि का, उनकी मनोवृत्तियों और प्रतिदिन के उनके उद्गारों और कारनामों का हवाला दे-देकर, उद्घाटन किया करते थे। क्या ही हास-परिहास तथा आनन्द और उल्लास के वे क्षण हुआ करते। ऐसे अवसरों पर बड़े ही सूक्ष्म निरीक्षणों, तर्कों तथा भावों और वृत्तियों की अत्यन्त मार्मिक हरकतों का वह विवरण देते थे। उनकी दलीलें इतनी जोरदार होती थीं कि उनके मानव-शास्त्र तथा जीवन-विज्ञान के अगाध पांडित्य और निरीक्षण के उनके अपूर्व कौशल को देखकर हम सब दांतों-तले उंगली दबा लेते थे।

अभी हमने कहा था कि व्यक्तियों की पाशविक योनि का अनुसंधान कर डालने की साहब में अद्भुत क्षमता थी। उस दिन तो उन्होंने इस क्षमता का एक नया

रिकार्ड ही कायम कर दिया ! क्या कहें, कैसे कहें, कुछ समझ में हमें आ नहीं रहा है। अगर किसी से सुना होता, तो सुनी-सुनाई बात का झट से बयान कर डालते। वह तो सब-कुछ हमने अपनी ही आँखों देखा था। हम सिर्फ दो-दिन पहले आये थे और परिवार के लोगों को साथ ले जाने की तैयारी में एक मिनिट की भी फुरसत नहीं मिली थी। दूसरे ही दिन हमें वहां से रवाना होना था, इस लिए यह सोचकर कि आज एम० पी० साहब से मिल नहीं लेते, तो शायद इस बार भेंट ही न हो पाएगी, दोपहर का खाना खाने के बाद पैदल ही उनसे मिलने चल पड़े। उनके घर के पास पहुंचे ही थे कि कलंदर के डमरू की गड़गड़ाहट सुनाई पड़ी और जब उनके मकान पर पहुँच गए तब क्या देखा कि सहन में मुहल्ले के लड़कों की भीड़ लगी है और बरामदे में कुर्सी लगाए धूप-छाह में (महीना नवम्बर का था) वह बैठे है। बंदर-बंदरिया का नाच करा रहे थे ! हमें देखते ही वह जैसे कोई बड़ा खजाना पा गए हों, एकदम निहाल हो गए।। गले लगाकर बैठाया। नाच खतम होने पर आ ही चुका था। चार-छह मिनिट बाद जब मदारी ने बंदर-बंदरिया को सब के सामने सलाम करके बखशीश लेने के लिए रवाना किया, तब भीड़ छंटने लगी। एम० पी० साहब ने नौकर को आवाज देकर चाय तैयार करने का हुक्म दिया। जब हमने कहा कि अभी चाय का वक्त नहीं हुआ है, हमें इजाजत दें, तो बोले—तुम गधे हो ! भला चाय का भी कोई वक्त हुआ करता है ? साहब का गधा होने का सौभाग्य बहुत दिनों बाद मिला था। उधर कलंदर अपने बंदर-बंदरिया को साहब से रोटी और कपड़ा मांगने के लिए स्वयं उनकी ओर से बोलकर तरह-तरह की याचकोचित शब्दावली में प्रेरणा दे रहा था। साहब भी 'मूड' में थे। ऐसे तो वह गालिब के बड़े भक्त थे और अपने हर मूड के लिए उपयुक्त जब-तब गालिब का कोई-न-कोई शेर गुनगुनाया करते थे, पर जब वे बड़े मूड में होते थे, तब हिन्दी ही में कविता रचने लगते थे ! नौकर अब तक नहीं आया था। सो फिर आवाज दी, और जब वह हाजिर हुआ, तब बोले—जा बे मुलुआ ! बहू जी से बोल दे कि बंदर-बंदरिया के लिए चार-छह पूरियां और छोटे पड़े मुन्नी के पुराने फ्राक और जांघियों में से एक-एक अच्छा देख कर भेज दें। फिर मेरी तरफ मुखातिब होकर बोले—हनुमान को रोट-लंगोटा, साहब को बस 'टी' !

इतने में हनुमान को रोट-लंगोटा अन्दर से आ ही गया। कलंदर ने एक-एक पूरी उन्हें पकड़ाकर चार अपनी झोली में डालीं और कपड़े दूसरी झोली में रखने लगा, तो साहब ने उसे टोका। बोले—इन्हें पहना दो ! मदारी ने बहानेबाजी

की। साहब ने डाँटा, तो बंदर को जांघिया पहना कर वह फ्राक फिर झोली में रखने लगा। साहब ने फिर टोका तो कलंदर बोला—हुजूर ! बंदरिया शरमा रही है। साहब ने कहा—शरमाने वाली बंदरिया तो हमने आज तक कोई देखी नहीं, हाँ, बंदर जरूर हयादार होता है। तेरी बंदरिया बंदर तो नहीं है ? साहब ने हँसकर कहा। पर, उधर कलंदर हाथ जोड़कर पैरों की तरफ बढ़ा और बोला-पेट तो बड़ा अधम है सरकार ! इसी को पाटने के लिए इनसान क्या-क्या नहीं करता ? एम० पी० साहब कहकहे लगाकर हंस उठे। बोले—बे ! तूने खूब किया। भला बंदरिया को बंदर बनाता, तो जमाने की रफ्तार के मुआफिक था। तू तो बेचारे इस बंदर को बंदरिया बनाकर न जाने कब से नचाता है और खूब ही तूने इसे सिखाया भी है। कलंदर के चले जाने पर हमने पूछा—एम० पी० साहब ! आप तो सचमुच दूसरे खुदा ही हैं ! आपने क्या देखकर ऐसा कह दिया था ? वह बोले, तुम गधे हो एकदम। कुछ भी नहीं समझते ! और लगे गुनगुनाने—हनुमान को रोट-लंगोटा, साहब को बस टी !

उसी वक्त शंकर भी आ पहुँचे। शंकरजी बड़े जिंदादिल आदमी हैं। कुछ दिन पहले अमेरिका से सनद लेकर लौटे थे और उसी कारखाने में एक अच्छे पद पर काम कर रहे हैं। शंकर जी 'चेन स्मोकर' (लगातार सिगरेट पीने वाले) हैं। सो, शंकर जी को देखते ही एम० पी० साहब की कविता एक कदम और आगे बढ़ी। हनूमान को रोट-लंगोटा, साहब को बस टी।

शंकर जी को भाँग धतूरा,……………………………………………? उस मुहल्ले में बाबू स्यामसहाय एक छोटे-मोटे कवि रहते हैं। वह शंकर जी के मामा लगते हैं, इससे, एम० पी० साहब ने उनसे साले-बहनोई का रिस्ता जोड़ रखा था। उनसे वह अकसर मजाक करते रहते थे। उस क्षण हमें भी कुछ कविता सूझ गई और हमने कहा—एम० पी० साहब गुस्ताखी माफ हो, तो मैं भी कुछ अर्ज करूँ ? वह बोले—गुस्ताखी करो। तुम्हारी सब गुस्ताखी माफ है। बताओ न क्या गुस्ताखी करना चाहते हो ? मैंने कहा—एम० पी० साहब। मैं सोच रहा हूँ कि अगर आप अपनी इस 'टी' में कुछ हेर-फेर कर दें, तो कविता पूरी हो जाय।

'सो कैसी ?'

'बस 'चाय' कर दीजिए और सुनिए :—

हनुमान को रोट-लंगोटा, साहब को बस चाय।
शंकर जी को भांग-धतूरा, कहते स्यामसहाय।'

बड़ा कुहरामी कहकहा लगाया एम० पी० साहब ने। बोले—आखिर 'साला' काम आगया। उस समय तक उनके पड़ोस के रणजित पी० एन० सिंह, मिस्टर सिनहा, प्रोफेसर मुमताजुद्दीन और मिश्रजी सभी आ गए थे। एम० पी० साहब बोले—भई नरेन्द्र, यह सारा बाजार कुछ-कुछ प्रयोगवादी हो रहा है। लड़के-लड़कियां सब। देखता हूँ कि इन छोकरों का असर मेरे ऊपर भी हो रहा है, नहीं तो चाय को 'टी' करके इस तरह 'टें' बोल जाने की मुझे जरूरत क्या थी?'

उस दिन एम० पी० साहब बहुत अच्छे मूड में थे। एक-एक बात पर मानो यौवन निखरा आ रहा था। जान पड़ता था उनकी जीभ पर सरस्वती ही आ बैठी थीं।

यों तो उनकी हमजोली में शेर, हिरन, चीता, घोड़ा, ऊँट सभी थे और गधा होने का सौभाग्य या दुर्भाग्य किसी को कभी भी नहीं मिला था। सच तो यह है कि उनकी जबान से हाथी शब्द का उच्चारण कभी किसी ने सुना ही न था। अतः हम लोगों की यह धारणा बन गई थी कि शायद हाथी को उन्होंने खास अपने ही लिए 'रिजर्व' कर रक्खा था। उनका डील-डौल भी हम लोगों के इस अनुमान को पुष्ट करने में सहायक था। हाथी को साहब की कमजोरी समझकर हम लोग उनके सामने कभी इस शब्द का उच्चारण नहीं करते थे, और न कोई कभी उनसे उनकी हैवानी-नसल पूछने की जुरअत कर सका था। परन्तु उस दिन शंकर को न जाने क्या हो गया था? उन्होंने साहब से सीधे-सीधे प्रश्न कर ही तो दिया कि आखिर एम० पी० साहब अपनी राय में आप कौन सा इनसान-हैवान हैं? क्षण भर के लिए हम सब सन्न रह गये। हमने यह समझकर कि एम० पी० साहब आज भाग नहीं सकते मन ही मन इसका मजा लेना भी आरम्भ कर दिया था पर शंकर के प्रश्न का उन्होंने तड़ाक से जो उत्तर दिया उसे सुनकर हम सब अवाक् रह गये। हमें यह स्पष्ट मालूम हो गया कि हम जो यह समझ बैठे थे कि उनके व्यक्तित्व की हमने थाह लगा ली है, यह हमारा निरा बचपना था। हमारे अहंकार के पर्वत को उन्होंने एक हलके से झटके में चूर-चूर कर डाला।

उस प्रश्न के उत्तर में—जिसे हमने एक बड़ा भारी प्रश्न समझ रक्खा था—उन्होंने जमा-पूंजी केवल एक शब्द का उच्चारण किया, और हम सब लोगों को यह आइने की तरह स्पष्ट झलका दिया कि उनके जिस व्यक्तित्व को हमने राई समझ रक्खा था, वह राई नहीं, साक्षात् हिमालय पर्वत था, और राई वस्तुतः हम

लोग थे। उस क्षण अपने एम० पी० साहब में हमें कबीर के 'साहब' की कुछ झलक दिखाई पड़ी, और कबीर के निम्न दोहे का मैंने मन ही मन बन्दे की तरह कई बार पाठ किया :—

साहब से सब होत है, बन्दे से कुछ नाहिं।
राई को परबत करे, परबत राई माहिं॥

हम लोगों को स्वप्न में भी इस बात की आशंका नहीं थी कि सीधा यही सवाल कोई भी कभी उनसे पूछेगा। इसलिए उस क्षण हम सब का एक दम सन्न रह जाना बड़ा ही स्वाभाविक था। हम सोच रहे थे कि अब एम० पी० साहब काफी कला करेंगे। ऊपर-नीचे अपनी बड़ी-बड़ी आंखें फाड़-फाड़कर वह कुछ देर उन्हें नचायेंगे। फिर कुछ बोलेंगे, या यह भी हो सकता है कि एक हलकी-सी मुसकी मार कर पैतरा ही बदल देंगे। मौन से उत्तर देने में वे बहुत निपुण भी थे। पर यह सब एक न हुआ। उन्होंने तो हमें आश्चर्य के महासागर के तल में ले जाकर पटक दिया। प्रश्न होने के पल भर बाद ही उत्तर में उनके मुंह से केवल एक शब्द, इस तरह सधा-बदा, बे-लगाव बे-लपेट निकला जैसे यह उत्तर उनके जन्म-धारण करने के पहिले से ही उनके लिए एक निश्चित प्रारब्ध के समान पका-पकाया धरा हुआ था। उनके होंठ हिले, इसकी याद हमें जरूर आती है और अपने कानों पर विश्वास करें तो हमारे कानों में एक शब्द पड़ा था यह भी स्वीकार ही होगा। किन्तु उस एक शब्द के उनके उच्चारण, और हमारे उस ध्वनि को सुनने की क्रिया के पश्चात् लगभग तीस-चालीस सेकेन्ड तक सब के सब अवाक् ही रहे और एम० पी० साहब, वे बारी-बारी से हममें से प्रत्येक की तरफ इस भाव से देख रहे थे, जिस भाव से एक ही 'फायर' में अनेक पक्षियों को धराशायी कर देने वाला शिकारी मन ही मन अपने कमाल पर मुसकुराता रहता है।

पर हमारे शंकर जी भी कुछ कम करामाती नहीं थे। ठहाका मार कर हंसते हुये शंकर ने कहा, 'क्या खूब एम० पी० साहब। क्या कहना है! आपने 'बुल-डौग' खूब ही कहा। 'बुल' सांड़ और 'डौग' यानी श्वान। सांड़ भी और श्वान भी! यही न? यानी वाहन के वाहन और पहरा के पहरा! क्या खूब! एक ही में दोनों। सुना है सांड़ महेश का और श्वान महेश के भाई भैरव का वाहन होता है! वाह, वाह, वाह! तब तो आप महेश शंकर प्रसाद भी हो सकते हैं!'

एम० पी० साहब एक गहरी साँस खींचकर बोल उठे, 'भाई जान ! एक शंकर का ही क्यों, मैं तो आप सबका प्रसाद और वाहन हूँ। और पहरा भी सभी का बजाता हूँ, तभी तो 'बुलडौग' हूँ ! हाथी तो मैं सिर्फ दुनिया की निगाह में हूँ। यह सब भोले बाबा की दया है जो भरम बना है और मेरे जैसे पोले और खोखले आदमी की भी जिन्दगी आप मित्रों के साथ बाइज्जत बीतती चली जा रही है !' अन्तिम शब्द निकलते-निकलते उनकी आंखें छलछला आई थीं, और हम लोगों के हृदय की आंखें भी एकदम गीली हो गई थीं।

और उस दिन खूब रात हुए खाना खाकर जब हम एम० पी० साहब से विदा लेकर अपने घर वापस आ रहे थे, तब मन ही मन सोच रहे थे कि 'रसखान' कवि ने 'मानुस हौं तो वहै रसखान' आदि से प्रारम्भ होने वाले अपने प्रसिद्ध सवैया छन्द में पशु-योनि में जन्म लेने पर नन्द की धेनु होने की कभी अभिलाषा व्यक्त की है।[१] 'चोंच' कवि (श्री कान्ता नाथ जी पान्डेय जो कभी जार्ज इस्लामियां कालेज, गोरखपुर में हिन्दी के अध्यक्ष थे और अब हरिचन्द्र कालेज वाराणसी में हिन्दी के अध्यक्ष हैं) ने उस छन्द की अपनी लिखी 'पैरोडी' (विवर्पय काव्य) में पशु-योनि में जन्म पाने पर 'बुलडौग'[२] होने की अपनी

---

[१] मानुस हौं तो वहै 'रसखान',
　　बसौं संग गोकुल गाँव के गवारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो,
　　चरौं नित नन्द की धेनु मझारन ॥
पाहन हौं तो वहै गिरि को,
　　जो कियो हरि छत्र पुरन्दर कारन।
जो खग हौ तो बसेरो करौं,
　　मिलि कालिन्दी-कूल कदम्ब की डारन ॥　　　　—'रसखान'

[२] मानुस हो वहै कवि 'चोंच',
　　बसों सिरी लन्दन के किसी द्वारे।
जो पसु हो तो बनो 'बुलडौग',
　　चलौं नित कार में पूँछ निकारे ॥
पाहन हों तो सिनेमई-हाल को,
　　बैठैं जहाँ मिस पाँव पसारे।
जो खग हों तो बसेरो करौं,
　　किसी ओक पै टेम्स नदी के किनारे ॥　　　　—'चोंच'

आकांक्षा प्रकट की है। आज एम० पी० साहब का 'बुलडौग' को दिये हुये इतने बड़े गौरव की याद करके मैं महाकवि 'चोंच' की अद्‌भुत भविष्यदर्शिता का एकदम कायल हो गया और यह मान गया कि इतने अर्से तक 'चोंच' जो को महाकवि स्वीकार न करके सचमुच मैंने अपने उस भाई के प्रति न्याय नहीं किया है।

और आज हमें एम० पी० साहब की जब याद आती है तब हम मन ही मन कहते हैं कि वह पूर्व जन्म के कोई बहुत बड़े योग-भ्रष्ट सत्पुरुष थे, जो अपनी साधना में कुछ खोट पड़ जाने के कारण मनुष्य की योनि में आ पड़े थे। वह न तो किसी की दोस्ती मानते थे और न किसी का बैर। खैर वह सबकी मनाते थे। इस दुनियां में आ फँसे थे तो दुनियादारी निभा रहे थे, और उन्हें ठीक तरह से न समझ सकने की दुर्बुद्धि रखने वाले हमारे और आप जैसे लोग खामखाह उन्हें बदनाम किया करते थे।

१४ : टी० एन० बी०

० ० ०

जिस प्रकार रुपये में अठन्नी समाई रहती थी उसी प्रकार टी० एन० बी० में एन० बी० समाये हुए थे। अतः जैसे जोड़ बाकी सीखने वाले को अठन्नी की जानकारी होते ही रुपये को समझना आसान होता है वैसे ही टी० एन० बी० को जानने के लिए एन० बी० की पहचान उपयोगी है !

श्री एन० बी०

एन० बी० यानी नाम-बिगाड़ू, नाम बिगाड़ने के फन में अपने अकेले में ही दून होने के कारण दुबे, या चौगून होने से चौबे, अथवा पांचगुने होने से पान्डे मान्य हो सकें या न हो सकें, उनके लिये उनका एन० बी० होना ही काफी है।

भगवान की विशेष कृपा[1] हो जाने से (इशारा 'खुदा गंजे को नाखून नहीं देता' मुहाविरे की ओर है !) वे यदि नख-विहीन रह जायें; अथवा नियमित रूप से 'नख हरणी' (नहरनी) का प्रयोग करते रहने से बेनखा रहें तब भी वे बघनखा से कम घावदायक नहीं होते । 'एक एक अकालिया सिख सवालाख के बराबर होता है' यह कथन भी सत्य होता हो या न होता हो, 'नाम-बिगाड़' तो चाहे पारे-पावगी-पाधे[2] में से कोई एक हों, अथवा पारेख-पलित-पालभी में से कोई एक या वे 'बीसों' (बीस नाखून वाले नहीं बीस बिस्वा वालों), 'छतीसों या चौरसियों' में से कोई एक हों, अपने अकेले में ही तब एक हजार के बराबर हो ही जाते हैं जब समदर्शी विधाता उनके सूक्ष्म अनुशीलन के लिये उन्हें सब 'कुछ एक ही आंख से देखने वाला बना देता है ! इसी से तो बूढ़े-सयाने कह गये हैं कि :—

सौ में सूर, सहस में काना !

'चौरसियों' और 'छतीसों' के संदर्भ में पान और नखहरणी शब्दों के प्रयोग द्वारा पाठक ! यद्यपि संकेत में हम इंगित कर चुके हैं कि पान व्यवसायी 'चौरसिये' और 'नखहरणी' के प्रयोग 'छतीसे' कहलाते हैं; फिर भी यदि स्पष्ट न हुआ हो तो 'छतीसे' शब्द की व्यंजना (या अभिधा) के पूर्ण स्पष्टीकरण के लिये एक मनोरंजक कहानी प्रस्तुत कर रहे हैं । विषायन्तर के लिये आप क्षमा करेंगे :—

कहते हैं कि किसी दिन गांव की डगर में एक नौजवान बहुत बन ठन कर घर से निकला किसी दूसरे गांव को जा रहा था । रास्ते में सामने से आ रहे एक बुजुर्ग मिले तो उसने न तो उन्हें रास्ता हो दिया और न जैराम जी या नमस्ते ही कहा । यह शिष्टाचार के विरुद्ध बात थी । बूढ़े बेचारे एक दम स्तब्ध रह गये । उन्होंने समझा कोई शहजादे महल से निकलकर रास्ता भूल गये हैं । वह तरुण कमखाब का अंगा और उसी कपड़े की टोपी जो पहने हुए था ! बूढ़े मियां से चुप न रहा गया । पूछ ही बैठे, 'भाई, आप कौन हों ?' 'तीस धन छै !' तड़ाक से जवाब मिला । 'अच्छा, तो तुम छतीसा हो ?' इतना सुनना था कि वह तरुण झट रास्ता छोड़कर अलग हो गया; और दाहिना हाथ सिर तक ले जाकर

[1] और यह भगवान की विशेष कृपा से तो होता ही होता है क्योंकि— 'कचित् दन्ताः भवेत् मूर्खाः, क्वचित् खल्वाट निर्धनीः' का उल्लेख है ।

[2] संस्कृत उपाध्याय शब्द का ही एक अपभ्रन्श पाधे या पाध्ये भी है । मराठी के पाधे, उपाध्ये, ओझे और बझे; हिन्दी के झा, ओझा तथा उपाधिया गुजराती के ऊँझा और पंजाबी के पाधा, ये सब 'उपाध्याय' के ही अवतार हैं ।

बड़ी विनम्रता से बोला 'मुंशीजी बन्दगी।' मुंशीजी को काफी अचरज हुआ। बोले, 'तो तुमने यह क्योंकर जान लिया कि मैं मुंशी हूँ!' 'हजूर! आपने तीस और छः को जोड़कर छत्तीस किया, फिर यह गन्ना की छत्तीसों जाति का परजा होने के कारण हजाम ही छत्तीसा हो सकता है, और फिर मेरी जात पहचान ली। इतनी जोड़-बाकी और गुणा-भाग लालाजी को छोड़कर और दूसरा कर कौन सकता है?'

खवास की बात सुनकर मुंशीजी चुपचाप आगे बढ़ गये थे।

हां, तो मैं कह रहा था कि नाम-बिगाड़ू अपने अकेले एक में एक हजार किस प्रकार हो जाता है। वास्तव में नाम-बिगाड़ू उन आसमानी तीरों जैसा होता है जो चीनी आक्रमण की तरह धोके की टट्टी की ओट लेकर, या रात्रि के अन्धकार के सहारे प्रायः कला सूट पहनकर कभी इस घर में और कभी उस घर में द्वेष और मनोमालिन्य के प्लेगीले कीटाणु फैलने वाले चूहों की तरह रोयें फुलाये, सन्-सन् धँसते रहते हैं। यही कारण है कि वे रात्रि में नाजिल होने वाले फालिज (लकवा या पच्छाघात) के समान या आधीरात के बाद पेट और छाती में उठने वाले कलेजे के शूल के समान प्राणघातक सिद्ध होते हैं। तब फिर इनके समक्ष दुवे, चौबे, पांडे अथवा बीसे, छत्तीसे और चौरसिये किस खेत की मूली हैं? अजी इनके हाथों पड़कर तो 'विलियम' (उर्दू लिखावट में वाव, लाम, ये, मीम, वाले) तक (मीम, वाव, लाम, ये में परिवर्तित हों) फकत मूली रह जाते हैं। इतना ही नहीं। अपनी एकाक्षता के बलपर एक हजार को अकेले हरतक दे डालने में निपुण ये 'हजारी' 'सौ में सूर सहस में काना' के अगले पद (सवालाख में ऐंचाताना) पर पहुँचते ही 'तिर पटिया' (तिरपठिया नहीं तिरपट यानी ऐंचाताना या भेंड़ा) होकर एक हजार या सौ हजार को ही नहीं, एक सौ पच्चीस हजार तक को मात देने लगते हैं! केश-कच्छ-कड़ा-कटार आदि भाइयों के पंच ककारों से सर्वथा विहीन होकर भी एक अकाली के ही समान ये भी सवालाख को धूल चटा देने की शक्ति हासिल कर लेते हैं। तब ये एन० बी० (नाम-बिगाड़ू) तिर-पटिया नाम-बिगाड़ू—एक शब्द में टी० एन० बी०—होकर, 'हजारी' से सवा-लाखी बन जाते हैं।

ये 'सवालाखी' जात-पांत, गोरे-काले, देसी-बिदेसी, हिन्दू-मुसलमान, बनिया-किसान आदि सभी भेद-भावों और ब्यौरे-बाजियों से परे होते हैं। विश्वास मानिये, इनकी एक अपनी अलग जात ही हुआ करती है। अतः इनका स्वयं तोमर, सेंगर,

भाला (अन्तर्वेद के भाले सुलतानी क्षत्री), कटारा (या कटारे सनाढ्य ब्राह्मण), कुल्हाड़ा अथवा तलवार (गढ़वाली क्षत्री) आदि होना भी कोई खास महत्व नहीं रखता। कहा भी है कि 'जहां काम आवे सुई, कहा करै तरवार ?'

'टी० एन० बी०'

इस सम्बन्ध में चाचा नेत्र बिसालजी का दृष्टिकोण अत्यन्त दुर्लभ और मौलिक था। वास्तव में एन० बी० के सम्बन्ध में जितनी बातें मैंने अब तक कहीं हैं, वे सब समय-समय पर उक्त चाचाजी के ही श्री मुख से निःसृत हुई थीं। चाचाजी दुबे, चौबे, और पांडे ही को नहीं, सुकुल, मिसिर, यहां तक कि बाजपेयी को भी तिवारी के आगे कुछ नहीं गिनते थे। वे तिवारी को ही ब्राह्मणों में सिरमौर घोषित करते थे। सचमुच चाचा नेत्र-बिसाल तिवारी जब तिवारी-महिमा-गान पर तुल जाते तो जमीन-आसमान एक कर डालते थे। उनका कहना था कि तीन से अटूट सम्बन्ध केवल तिवारी का ही होता है; और चूंकि तीन की महिमा अरम्पार है, तिवारी की महिमा भी अपरम्पार है और तीन की अगाध और अनन्त महिमा के कारण ही तिवारी को अपने फन में अनायास इतनी विशदता और गहरेबाजी प्राप्त हो जाती है। इसी से नेत्र-विसाल चाचा अपने तिवारी-कीर्तन के समय तीन-तेरह [1] वाले तीन से लेकर तीन ताग वाले तीन तक, सब में तिवारी ही की महिमा अवलोकते थे। उनकी बातें सचमुच बड़ी चोखी; और चमत्कार पूर्ण कहावतों से चकाचक चुस्त-चौबन्दा होने के कारण, विवाद करने वाले और श्रद्धा विहीन श्रोताओं को चारोखाने चित्त कर देती थीं। उनकी मान्यता थी कि चाहे ब्रह्मा-विष्णु-महेश को लीजिये, अथवा फादर-सन-होली घोस्ट को देखिये; बुद्ध-धर्म-संघ को आराधिये, या सत्यं-शिवं-सुन्दरम् को गिनिये, संख्या सब की तीन ही तो है। कफ-पित्त-वात जो मानव-तन-चादर में ताना-बाना-भरनी के तुल्य हैं; और हठ योग में प्रगीत 'इंगला-पिंगला-सुसुमना' नाड़ी तथा त्रिवेणी की गंगा-यमुना-सरस्वती से लेकर, ठंडा-गरम-मातदिल, बचपन-जवानी-बुढ़ापा, और सच-झूठ तथा तेरे-मुंह तेरी-जैसी मेरे-मुंह मेरी-जैसी-गोलमाली, गोलमोल तक संख्या सब की तीन ही है। चाचा का तो यहां तक कहना था कि नारायण तीन डग में सारे ब्रह्मांड को नाप लेने वाली अपनी अनन्त शक्ति को बावन अंगुल वाले जिस ब्राह्मण

---

[1] गर्ग, गौतम और शांडिल्य ब्राह्मणों के ये तीन सर्वश्रेष्ठ गोत्र माने गये हैं। गर्गों के सम्बन्ध में तो यहाँ तक कहा गया है कि :—ऊपर स्वर्ग; भू पर गर्ग !

की काया में समेट कर आ विराजे थे वह चौबे या पांडे नहीं तिवारी ही था वर्ना वे तीन डग में ब्रह्मांड नाप नहीं सकते थे ! चाचा का यह समस्त विशाल तिवारी-तर्पण निस्सन्देह स्मरणीय था । स्मरणीय ही नहीं, प्रातःस्मरणीय था !

नेत्र बिसाल तिवारी नाम से भी टी० एन० बी० थे, और काम से भी या गुण से भी । सच तो यह है कि वे गुण से डबल टी० एन० बी० यानी टी० टी० एन० बी० (तिरपटिया तिवारी नाम बिगाड़ू या तिरपटिया तिवारी नेत्र बिसाल होने से) थे ! तिवारी और तिरपटिया दोनों ही वे जन्मजात थे; हाँ नाम बिगाड़ू वे निज पुरुषार्थ से हुए थे । किन्तु आप आश्चर्य करेंगे कि वे अपना तिवारी और तिरपटिया होना भी जन्मना कम और कर्मणा अधिक मानते थे । तिवारी जी काँछ का सच्चा होना ही मर्द की असल मर्दानगी समझते थे, अतः पराई स्त्री को माता और बहिन के समान ही पूजनीय मानने का व्रत उन्होंने जीवन भर निभाया था । उनका कथन था कि बिलकुल ही अपढ़ और देहाती आदमी भी अगर काँछ का सच्चा हो तो कठोर संयम, संघर्ष, सचाई और फालतू आदमियों से दूरी का व्यवहार रखकर संसार में बड़ा से बड़ा काम कर सकता है । यह उनका कथन ही नहीं आचरण भी था, यही कारण था कि सुनने वालों का उनकी बातों पर पूर्ण विश्वास जम जाता था । वे इन्हीं गुणों से अपने जीवन में जौ-जौ करके आगे बढ़े थे, अतः वे प्रारब्ध और संयोग को नहीं, पुरुषार्थ और अभ्यास को ही सारा श्रेय देना चाहते थे । क्या ही मौलिक और लाजवाब इस सम्बन्ध में भी उनके तर्क थे ।

उनके अनुसार, उनकी एक आंख जन्म से ही कुछ छोटी जरूर थी, परन्तु वैसी उस्ताद और 'निगाहबाज' या 'निशाने मार' आंख उन्होंने रोजाना मश्क करके यानी दबा-दबाकर बना ली थी । इसी वजह से वे अपनी पलटन के सर्वश्रेष्ठ निशानेबाज थे । 'एम' लेने अर्थात् निशाना साधने के लिये सभी निशानेबाज एक क्षण भरके लिए एक आंख दबाकर तब दबदबी (घोड़ा या ट्रिगर) दागते हैं । पर नेत्र बिसाल जी की एक आंख भगवान के घर ही से दबी-दबाई आई थी; और फिर अपने अभ्यास द्वारा उसे सदा ही दबी रहने वाली उन्होंने बना डाला था । अतः जब तक दूसरे जवान आंख दबायें-दबायें तब तक चाचा 'एम' ले चुकते और औरों के निशाना साधते-साधते, ये दबदबी दाबकर निशाना सबसे अव्वल मार लेते थे ! इसी तरह तिवारी होना भी वे अपने पुरुषार्थ से मानते थे । इस सम्बन्ध में भी उनका तर्क अद्वितीय था । तिवारी होना उन्होंने अपने पुरुषार्थ से प्रमाणित किया था । अनेक अन्य बातों की तरह यह बात भी अपने वार्धक्य में वे बड़े गर्व के साथ कहा करते

थे। उनका कहना था कि उनकी गायत्री फौज के सिपाहियों में ही नहीं, उस पूरी लड़ाई में घायल होकर जीवित बच रहने वाले दुबों, चौबों या पांडों में एक भी तो ऐसा नहीं था जो दो, चार या पांच गोलियां खाने पर भी जिन्दा रहकर क्रमशः अपना दुबे, चौबे या पांडे होना उस प्रकार प्रमाणित कर सकता जिस तरह तीन-तीन गोलियां खाने के बाद भी जीवित रह कर नेत्र बिसाल जी ने अपना 'असली' तिवारी होना प्रमाणित कर दिया था ! यही तो बात है जिससे वे अपने तिरपटिया और तिवारी होने के गुण को भी जन्मना नहीं कर्मणा मानते थे। मानना पड़ेगा कि वे विधाता की एक अनुपम सृष्टि थे।

वे बचपन में ही घर से भागकर परदेस चले गये थे, और बहुत दिनों तक बनारस में किसी हलवाई के यहां नौकरी करने के बाद फौज में भरती हुए थे। फौजी लंगर में आंटा गूंथने के काम से आरम्भ करके होते-होते अन्त में फौज में एक बड़े ओहदे तक पहुँच गये थे। वे इतना काफी अर्से तक फौजी जीवन बिता चुके थे कि उनके रोम-रोम में फौजी छाप, शरीर पर जिल्द के पैदायशी रंग के समान एकदम पक्की जम गई थी। उदाहरणार्थ-फौजी रजिस्टर में उनका नाम 'तिवारी नेत्र बिसाल' यानी टी० एन० बी० दर्ज था। सो वे उस नाम से ऐसे चिपके हुए थे कि 'पिनसिन' पाकर गाँव में आ बसने पर भी मेले-तमाशे या रेल के सफर में अपना नाम 'तिम्बी' (टी० एन० बी०) ही बतलाते थे। दूसरे-तीसरे महीने शहर से 'पिनसिन' लेकर अपने फौजी लिबास में टीसन वारिसगंज से अपने गाँव जाते समय वे रास्ते के कई गांवों में से होकर गुजरते थे। उस समय सीवान (गांव के सीमान्त) में ढोर चरा रहे लड़के जब 'तिम्बी साहेब ! तिम्बी साहेब !!' आवाज लगाने लगते थे उस समय चाचा मन ही मन निहाल हो उठते थे। वे हाथ हिला-हिलाकर उन बच्चों को पास बुलाते, और प्रत्येक को एक-एक 'लेमन चूस' देकर 'तिम्बी साहेब की जै' कहने के लिये प्रेरित करते थे। बात यह थी कि अपने बाल्यकाल में वे जब तक गांव में रहे थे उन्हें हर आदमी 'बिसलवा' ही पुकारता था। शायद उसी पुराने जखम को भरने के लिये उन्होंने 'टी० एन० बी०' का गाढ़ा मलहम 'तिम्बी' रूपी टिन के डिब्बे में संजो रखा था। घर से भाग जाने के बाद बरसों तक उनका अता-पता नहीं रहा था, पर अकस्मात एक दिन जिस समय हौलदार तिवारी नेत्र बिसाल का लाम पर से एक पत्र और सौ रुपये का 'मनिआर्डर' बिसलवा की महतारी के नाम आकर गिरा सभी को ऐसा लगा जैसे एक ही दिन में उनके गांव की इज्जत दस-पन्द्रह हाथ ऊपर उठ गई थी। उसी दिन से 'बिसलवा की महतारी' 'बिसाले की अम्मा' कहलाने लगी थीं !

उन दिनों चाचा नेत्र बिसाल अपने पत्रों में यह हिदायत देना नहीं भूलते थे कि लिफाफे के ऊपर उनका नाम नेत्र बिसाल तिवारी नहीं, वर्ना तिवारी नेत्र-बिसाल और टी० एन० बी० जरूर लिखा जाया करे, नहीं तो उनका पत्र अन्य सभी पत्र बंट जाने के बाद एक दिन पीछे उन्हें मिलता है। पर पत्र लिखने वालों से प्रायः चूक हो जाती थी। यही कारण था कि उन्हें प्रायः अपने प्रत्येक पत्र में चेतावनी देनी पड़ती थी।

पढ़ने-लिखने के नाम पर नेत्र बिसालजी को 'काला अच्छर भैंस बरोबर' ही था। बड़ी कसरत करके वे रोमन अक्षरों में टी० एन० बी० गूंद लेते थे। अतः नौकरी उन्हें अठारह रुपए प्रतिमास की ही मिली थी। परन्तु डिसचार्ज के समय तक ये सूबेदार हो गए थे, और एक सौ साठ रुपये महीने की 'पिनसिन' बँधी थी। अपनी असाधारण उन्नति का कारण वे अपना तिरपटिया और नाम-बिगाड़ू होना ही मानते थे। उनकी ही बखानी उनकी तिरपटिया-महिमा का उल्लेख हो चुका है। अब नाम बिगाड़ू की महिमा का उनका किया हुआ बखान सुनिए। उनका कहना था कि यदि उनमें नाम-बिगाड़ू आदत न होती तो हवलदार यादव ने उन्हें अपनी 'रजमट' से 'गायत्री रजमट' में न खदेड़ा होता, और गायत्री-रजमट में अगर वे न गये होते तो गायत्री मंत्र का जाप करने वाले उनके बिरगिडियर जार-डीन उन्हें न मिले होते; और अगर बिरगिडियर जारडीन न मिले होते तो वे सारी उमर 'जवान' के जवान ही रह गये होते। कान के बहरे अपने आला अफसर जारडीन की चर्चा करते समय अत्यन्त वृद्धावस्था में भी चाचा की आँखें डबडबा उठती थीं। उनका कहना था कि 'वर्दो' के मुहासिरे में तीन-तीन आक्र-मण का संकेत पाकर भी जारडीन ने दस हजार ब्राह्मणों को यह कहकर कि 'गनीम बड़ा जोरदार है, लेट जाओ। बढ़ोगे तो सभी एक लहमे में हवा में पत्ते की तरह उड़ जाओगे!!' आगे बढ़ने से रोक लिया था, जिसके परिणाम-स्वरूप उन बेचारे को कोर्टमार्शल होकर भयावह अपमान तो सहना पड़ा था किन्तु दस हजार ब्राह्मणों को जर्मन-होइटजारों के गोले के साथ हवा में तिनका-तिनका न होने देने का आत्मसंतोष उन्हें बराबर अन्त तक बना रहा था।

तिवारीजी जिस समय फौज में भरती हुए थे, बाराबंकी जिले के एक यादव जी उसी पलटन में हौलदार थे। तिवारीजी का गाँव ऐसे तो पड़ता था इन्होंनो के थोड़ा पच्छिम राय रायबरेली जिले में, पर यादवजी के गाँव के एक आदमी की तिवारीजी के गाँव में ससुराल होने से तिवारीजी के साथ यादव जी साले-बहनोई का रिश्ता मानकर प्रायः परिहास किया करते थे। हाजिर-जवाबी

में तिवारीजी एकदम लाजवाब थे, साथ ही सेर का सवा सेर, और तिवारी होने से कभी सेर का तीन सेर तक चुका देने में किसी प्रकार को मुरोवत भी नहीं करते थे। परन्तु यादवजी में हास-परिहास की उस कोटि की दरियादिली का अभाव था, अतः वे कभी-कभी खिसिया उठते और निम्नस्तर पर भी उतर आते थे। उन क्षणों तिवारीजी बड़ा मजा लेते थे। अपनी दबी हुई आंख रूपी दबदबी को बीच-बीच में दाब-दाबकर वे अपने वचनों के व्यंग-बाण मारते रहते थे। ऐसी ही खिसियाहट में एक दिन यादव जी ने तिवारीजी की जात पर यानी उनके तिवारी-पन पर हमला बोल दिया? उसी प्रसिद्ध—'नमकन में खारी, कैंथन में पटवारी, ब्रह्मनन में तिवारी' लोकोक्ति का उल्लेख करके। किन्तु 'बह्मनन में तिवारी' के बाद 'बहुत दगाबाज होते हैं!' जब तक यादव जी के मुँह से निकले-निकले तब तक तिवारीजो ने बड़े जोर से 'सबमें सिरताज होते हैं!' कहकर एकदम बात ही उलट दी थी। अंग्रेजी मुहाविरे के अनुसार यादव जी पर 'टेबल ही टर्न' (उलटा) कर दिया था।

प्रत्येक जाति के सम्बन्ध में तिवारीजी को भी अनेक कहावतें कंठस्थ थीं और अब वे भी बातचीत के दौरान में उनका खूब उपयोग करने लगे थे। उनकी इसी जानकारी के कारण लोग उन्हें टी० एन० बी० की जगह तिवारी नाम बिगाड़ भी पुकार दिया करते थे, पर तिवारी जी बुरा न मानते थे। तिवारीजी ऐसी घुन्ने तो थे नहीं जो रूठ जाते। यादवजी के दिये हुये उपहार को उन्होंने दोनों हाथ फैलाकर ग्रहण कर लिया, किन्तु यादवजी को भी उस उपहार का मूल्य तत्काल ही चुका डाला! तिवारीजी ने यादव जी के सम्मान में भी एक लोकोक्ति कह डाली, और वह ऐसी चुभती हुई थी कि शाम होते-होते सारी 'बारगों' में गुनगुना उठी। वह थी :—

सब जातैं रघुबीर की, दो जातैं बे पीर।
घात्र पाय चूकैं नहीं, लोधी जात अभीर॥

वास्तव में वह ऐसा जमाना था जब आमने-सामने एक दूसरे की जातीय-प्रवृत्तियों का बे-झिझक बयान करके भी हृदय की उदारता तथा विकार-राहित्य के कारण कोई किसी के दिल को चोट नहीं लगने देता था। जातिवाद की दुर्वृत्ति का रोग आत्मविश्वास के अभाव के कारण आज लोगों में जिस भयावह रूप में फैला हुआ है उस जमाने के लोगों के लिये नितान्त अज्ञात था! यह बात नहीं कि पिछले खेवे के लोग जाति-भावना से सर्वथा हीन थे। जी नहीं। वे आज

के लोगों जैसे 'परमहंसगति' को तो प्राप्त नहीं हुए थे क्योंकि रोटी-बेटी अपनी जाति में ही सीमित रखते थे, पर जातिवाद के रोग से बिलकुल पीड़ित नहीं थे। जाति-भावना हृदय में अखंड रखते हुए भी वे जातीयता (राष्ट्रीयता) और मानवता को किसी भी जाति के ऊपर मानते थे ! उन दिनों प्रत्येक जाति के सम्बन्ध में समाज के अन्य लोगों की, सदियों के अनुभव के निचोड़ के रूप में, एक स्थिर धारणा होती थी। जाति के जातिगत चारित्र्य के सम्बन्ध में उन प्रसिद्ध मान्यताओं को, जो प्रायः इस तरह की लोकोक्तियों के रूप में हर आदमी को कंठस्थ रहती थीं; उस जाति के लोग अपने उस जातीय दोष या गुण को जनमत मान कर स्वीकारते और स्मरण रखते थे। वे तदनुसार ही कोई काम करते या उस काम से दूर रहते थे। जातीय गुणों की प्रतिष्ठा के उपयुक्त कार्य करते और जातीय दुर्गुणों और त्रुटियों को ध्यान में रखकर कभी भूलकर भी ऐसा आचरण नहीं करते थे जिससे उनकी जाति के सम्बन्ध में किसी हीन भावना की पुष्टि हो जाय। अतः प्रत्येक व्यक्ति यही प्रयास करता था कि अपनी जाति पर लगी हुई काली मुहर को वह सदा-सदा के लिये धो डाले। वे लोकोक्तियाँ प्रायः निषेधात्मक होतीं अतः समाज का प्रत्येक व्यक्ति निषिद्ध आचरणों से परहेज करता था जिससे समाज पर एक अंकुश रहता; और नैतिकता का स्तर नीचे नहीं गिरने पाता था। साथ ही उस वातावरण में पले लोगों में तटस्थता के गुण का अपने-आप विकास हो जाता; अतः वे लोग जीवन कला के सच्चे पारखी और साधक होते। अन्तस में वे किसी दूसरे के प्रति कलुष या दुर्भावना न रखने के कारण अत्यन्त निस्पृहता और तटस्थता के साथ कड़ा से कड़ा परिहास करके भी पारस्परिक स्नेह और सौहार्द्र अक्षुण्ण रख सकते थे। वास्तव में इस कोटि की कहावतें उनको उच्च मानसिकता के निर्माण में सहायक होती थीं न कि जातीय विद्वेष फैलाने में। यही कारण था कि वे उस समय के समाज में बहुत प्रचलित थीं। आज तो जातिवाद का विष इतना अधिक फैल गया है कि कोई किसी के जाति के सम्बन्ध में परोक्ष में भी ऐसी जातीय लोकोक्तियों का उच्चारण कर दे तो दोस्ती में ही खलल पैदा हो जाता है। हाँ नृशास्त्रियों के लिये ये आज भी संग्रह और मनन की ठोस सामग्री हैं। खैर। सो उस घटना के महीना भर बाद ही गायत्री-रजमट से सर्कुलर आने पर जब यादव साहेब ने सब से अव्वल तिवारी नेत्र बिसाल की जोर-शोर से सिफारिश कर दी और वे रजमट छोड़कर जाने लगे तब कई लोगों ने कहा कि यादव साहेब ने तभी से गांठ बांध रखी थी, और अब बदला लेकर ही छोड़ा। पर चाचा ने ऐसी बात पर विश्वास करने से साफ इनकार कर दिया था।

किसी भी मनुष्य के जीवन में सब दिन एक समान नहीं बीतते। नेत्र बिसाल तिवारी के जीवन में भी यह बात घटित होकर रही। यद्यपि जीवन के अन्तिम क्षण तक उन्हें पैसे की तकलीफ नहीं रही, पर एक-दो फुटकल बातें ऐसी आ खड़ी हुई थीं जिन्होंने उनकी बुढ़ाई का गाढ़ा मधुर-जीवन रस एकदम फीका कर डाला।

० ० ०

फ्रांस की यशस्वी भूमि पर बीती एक वह रात उनके जीवन की सब से उत्कर्षमय रात थी जिसमें उनकी रजमट को कैंप से रातोरात कितने ही मीलों पैदल चलकर दूसरे दिन 'वर्दों' के प्रसिद्ध मुहासिरे में शरीक होना था। उस समय असगुन (अप शकुन) के ख्याल से कोई सिपाही चाचा को अपने आगे नहीं रहने देना चाहता था, अतः एक दम पिछली पाँत में उन्हें खड़ा होना पड़ा था। फौज से 'पिनसिन' पाकर गाँव आने के बाद कई बरसों तक वे अपने हम-जोलियों को रणक्षेत्र का मनोरंजक वृत्तान्त काफी विस्तार में खूब रस लेकर सुनाया करते थे, वे कहते कि मानव-जीवन में यदि सत्य ही कहीं स्वर्ग और सत-युग दिखाई दे सकता है तो केवल युद्ध-क्षेत्र में जा रहे सैनिकों के बीच। उस समय रास्ते में जो ही मिल जाता और कुछ माँगता है उसके सामने सिपाही वही निस्पृहता और दरियादिली के साथ अपनी कीमती से कीमती चीज घड़ी, सोने की बटन, अंगूठी, रुपये की थैली—इस तरह फेंक देता है जैसे कोई भी दियासलाई की खाली डिबिया फेंक देता। उन दिनों प्रत्येक सिपाही दूसरे सिपाहियों की कोई सेवा या सहायता कर देने के अवसर को प्रतिक्षण प्रतीक्षा करता रहता, और उस अपनी अविस्मरणीय रात्रि का वर्णन करते समय वे ऐसे तन्मय हो जाते कि लगता जैसे कोई दैवी प्रेरणा प्राप्तकर महाकाव्य रचना कर रहे हों।

वे बतलाते कि उस बरफीली रात में जब वे 'मार्च' हुए थे उस समय हड्डियों तक को छेद देने वाला ध्रुव प्रदेशीय उत्तरी पवन साँय-साँय करता हुआ बह रहा था, फिर भी प्रत्येक सिपाही के शरीर पर उसके सारे सामानों का इतना काफी बोझ था कि कुछ ही मील पैदल चलने में शरीर पसीना-पसीना हो गया था। और कुछ देर बाद तो यह देखा गया कि कोई यहाँ, कोई वहाँ, थोड़ी-थोड़ी देर पर मूर्छित होता रहता था। जो मूर्छित हो जाते संग-संग रेंग रही मोटर गाड़ियों पर बिठा लिये जाते थे, और फिर थोड़ी देर में प्रकृतिस्थ होने पर वे फिर पैदल मार्च करने लगते थे।

दो-तीन घंटे की यात्रा के बाद कोई आधी रात बीत जाने पर भीतर-भीतर पसीने से तर-ब-तर चाचा को यह आभास हुआ कि उनके पैर लड़खड़ाने लगे हैं तो उन्होंने पीछे घूम कर देखा। अपने आगे-पीछे बहुत दूर तक किसी को न देखा और किसी के चलने की कोई आहट न पा वे सड़क छोड़कर दाहिनी ओर जरा दम मार लेने के लिये रुक गये थे। और तभी नींद ने, भूख ने, थकान ने शरीर के पसीने ने, सब ने एक साथ ही मिलकर उन्हें, कोई दो-ढाई फर्लाङ्ग की दूरी पर टिमटिमाते हुए एक प्रदीप की ओर इस तरह फेर दिया था जैसे चुम्बक किसी लोहे के टुकड़े को घुमा-फिरा कर अपनी ओर खींच लेता है। काफी दूर तक फैले हुए फसल बोये खेतों के बीच उस घर के भीतर टिमटिमाता हुआ वह प्रदीप मानों निराशा के अन्धकार में आशा की किरण का प्रतीक बन रहा था। सड़क से उस मकान तक गया हुआ रास्ता न पाकर चाचा सीधे खेत में उतर पड़े थे, जहाँ रह-रहकर उनके पैर मिट्टी में एक-एक बीता धंसे जा रहे थे। इसी से दो-ढ़ाई फर्लाङ्ग की दूरी पार करने में उन्हें घंटा-सवा-घंटा लग गया था। अन्त में वे वहाँ पहुँचे, किन्तु परछी (पोर्च) में पैर रखते ही मकान के भीतर से जोर-जोर से कुत्ते के भौंकने की आवाज उनके कानों के पर्दे फाड़ने लगी। कुछ ही क्षण बाद एक खिड़की खुली। किसी ने हरीकेन सहित बाहर हाथ करके देखा। फिर कुछ पूछा। एक विदेशी सिपाही को अपनी पर्छी में यों कीचड़ में लथपथ निरुत्तर खड़ा देख उसने अन्त में द्वार खोल दिया। सिपाही को अन्दर ले, कुत्ते को जंजीर से बांध उसने द्वार बन्द किये और वहीं एक कुर्सी डाल उस पर सिपाही को बैठने का संकेत कर हट गई, पर थोड़ी ही देर में दो बाल्टियाँ गरम पानी लेकर आ गई। जूता समेत पैर बाल्टी में बारी-बारी से ले जाकर लोहे के दाँतों वाले ब्रुश से कीचड़ साफ करके एक मैले कपड़े से जूते पोंछ डाले। फिर जूता खोलने लगी और जब गीला होकर कस जाने से चमड़े के फीते की गाँठें न खुली तो उसने एक तेज छुरी लेकर उसे काट डाला, और पास ही में रखे शायद अपने पिता या भाई के बूट के फीते निकाल कर उन जूतों में पहना दिये। फिर मोजे अलगकर तौलिये से पैर पोंछ दिये और सिपाही को अंगीठी के पास लिवा जाकर बैठा दिया। इतने में एक बुढ़िया बिस्तरा छोड़कर अंगीठी के पास आ गई थी और लकड़ी के दो-तीन मोटे-मोटे कुन्दे डालकर उसने अंगीठी को प्रज्वलित कर दिया था। शायद वे माँ-बेटी थीं। मरदों के लाम पर चले जाने के बाद घर चला रही थीं। बुढ़िया ने युवती से कुछ कहा। शायद अपनी बेटी की आतिथ्य भावना की सराहना में; और फिर स्वयं जाकर एक जग भरा गरम दूध तथा एक शीशे का गिलास लाकर सिपाही के सामने गिलास में दूध भरकर रख दिया। एक गिलास दूध पी लेने के बाद सिपाही

ने कुछ तकल्लुफ दिखाया; किन्तु युवती ने उसके हाथ से गिलास लेकर उसे फिर भर दिया; और तीन-चार बार में जग का सारा दूध जब खतम हो गया तब वे दोनों ही खूब प्रसन्न खिलखिला कर हंसने लगीं। तिवारीजी ने भी उनकी हंसी के कंधे में कंधा लगाया। क्षणभर के लिये युवती बगल वाले कमरे में चली गई थी। तत्काल बायें हाथ से दो कम्बल बगल में दबाये जब लौट रही थी, दाहिने हाथ से कमरे का पर्दा जरा उठा उसने गर्दन टेढ़ीकर सिपाही को वहां बिछे पलंग पर सो रहने का संकेत किया। शायद वे दोनों उस पलंग पर इकट्ठे सोती थीं; और अब उसे अतिथि के हवाले कर शेष रात अंगीठी के पास बैठकर बिता देने का उनका निर्णय था। किन्तु तिवारी जी अपने जीवन में एक वार भी किसी गैर के बिस्तरे पर नहीं सोये। अतः उन्होंने गर्दन दूसरी ओर मोड़कर दरवाजे की तरफ इशारा किया; और हाथों से ढोरों का, और आंख मूंद कर वहीं सो रहने का अपना मन्तव्य संकेत से प्रकट किया। इस पर युवती पुनः खिलखिलाकर हंस पड़ी; और पलक मारते सिपाही बूट और मोजे जिन्हें पता नहीं कहां रखकर उसने अब तक भलीभांति सुखा डाले थे, और बरानकोट जिसमें लगी कीचड़ की सफाई कर डाली थी, सब लाकर सिपाही के सामने धर दिये। चलते समय सिपाही ने उन दोनों को बड़े सम्मान के साथ 'सलूट' देकर द्वार की ओर पैर बढ़ाया ही था, तब तक द्वार खोलकर वह बाला हरीकेन हाथ में लिये सिपाही के आगे-आगे चली जा रही थी। फिर 'बार्न' (बाड़े) तक उसे पहुंचा हाथ में हरीकेन पकड़े वह अपने घर के अन्दर चली गई थी।

वाड़े के द्वार खोलकर तिवारीजी कैसे और कितनी देर में भीतर पहुंचे इसकी याद उन्हें नहीं रही, क्योंकि उस क्षण उनकी आंखों में उस मनमोहिनी बाला के सौंदर्य का स्नेह और सौहार्द्र भरा था तथा उनके कानों में उसके अश्रुत पूर्व हास्य की पवित्र सुस्वरता गूंज रही थी। तिवारीजी दुर्गा के उपासक थे। उनके हृदय की प्रत्येक धड़कन उनसे कह रही थी यह उनकी देवता मां दुर्गा ही थीं जो फ्रांस की भूमि में उनके परित्राणार्थ बहिन बनकर उस बाला के रूप में आई थीं और तभी जैसे पल भर में मानस पर पड़ा एक पर्दा हट गया, और एक नई दुनिया सामने आ खड़ी हुई। सामने खड़भड़ाकर भागते हुए गाही के गाही उनके ही समान सड़क छोड़कर हट आये हुए 'वीर' जवान तिवारीजी को दिखाई दिये। फौरन तिवारीजी के मुंह से 'फाल इन !' कमांड के ये चार अक्षर निकल पड़े। दो लाइनों में वे सभी जवान पलक मारते ही आ खड़े हुए। तिवारीजी ने उनकी गिनती कराई। वे चालीस थे। फिर उनका उद्‌बोधन किया। बोले 'कुछ हरकत

नहीं जवान ! हम सब संभाल लेगा। दो घंटे आराम करो। हम मार्च कराके ले चलेगा !' फिर उन्होंने 'आराम' का काशन दिया। तिवारीजी के चमचमाते बूटों को देखकर ही उन सब को विश्वास हो गया था कि वे बड़े अफसर के भेजे हुए वहाँ आये थे। तिवारीजी को नींद नहीं आई। जिस बात की उन्होंने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी वह बात नेतृत्वशक्ति अपने में पा मन ही मन वे माँ दुर्गा की महिमा का गान करते रहे थे।

दूसरे दिन ये नये 'अलीबाबा' जब 'अपने' जवानों को लेकर कैंप में पहुँचे उस समय तक इन एकतालीसों की सूची बन चुकी और 'भग्गुलों' के रजिस्टर में इनका नाम लिखा जा रहा था। किन्तु तिवारी की 'लीडरशिप' ने उनका नाम ऊँचा उठा दिया। कहते हैं कि तिवारी जी तो उसी क्षण हौलदार बना दिये गये थे।

० ० ०

बात कुल इतनी ही थी जिसे गाँव में आ जाने पर एक-दो बार चाचा ने अपने हमजोलियों को सुनाया था। उनमें से किसी ने मजाक में उनसे एकाध बार पूछा कि तुम्हारी मेम वाली बालटी लोहे की थी कि पीतल की तो नेत्र बिसाल जी चिढ़ गये। जवानी में कभी भी हास-परिहास में न चिढ़ने वाला वह महापुरुष बुढ़ाई में बड़ा चिड़चिड़ा हो गया था। चिढ़ने वाले आदमी को लोग और चिढ़ाते ही हैं इसलिये काफी अर्से तक यह मजाक चला था। पर दूसरी पीढ़ी वालों में से कभी किसी ने वह बात नहीं उठाई थी; और अब तो इतने दिनों बाद तीसरी पीढ़ी भी आ गई थी, जो इन्हें 'बाबा' कहती थी। फौज से लौटने के बाद चाचा ने विवाह किया था; और एक कन्या को जन्म देकर उनकी पत्नी स्वर्गवासिनी हो गई थी। वह कन्या भी एक पुत्र की माता थी; और चाचा का वह नाती भी सयाना होकर नवीं कक्षा में पढ़ रहा था। उसकी पाठ्य पुस्तक में एक कहानी थी 'उसने कहा था।' सो एक दिन नाती जब वह कहानी पढ़ रहा था 'फरंगी मेम' का प्रसंग आते ही चाचा चिल्ला उठे थे और बोले—'यह बात एकदम झूठ है। मैं तो खुद अपनी आँखों देख चुका हूँ। इस तरह का व्यवहार फरंगी मेमें नहीं किया करती !' फिर उन्होंने फरंगी (फ्रैंक = फरासीसी) मेम वाली आप-बीती घटना कह सुनाई। कई अन्य लड़के भी वहाँ उपस्थित थे। बात गाँव भर के लड़कों में फैल गई थी। दूसरे ही दिन एक इंटर में पढ़ने वाले लड़के ने पूछा 'बाबा ! फरंगी मेम ने बिना चीनी का दूध पिलाया था कि दूध में चीनी पड़ी थी ?' तिवारीजी ने उस दिन अपना सिर पीट लिया था। उस रात भोजन भी नहीं किया था।

बड़ों और बूढ़ों के प्रति पढ़े-लिखे नौजवानों की ऐसी अशिष्टता और बेशर्मी देखकर उनका कलेजा फट गया था। इंटर और बी० ए० करके उन ढेर भर घर पर बेकार बैठे तरुणों से उन्हें एक और भी शिकायत थी। प्राय: उन सबने एक कारीगर से, जो बारह-बारह आने में गांव में आकर बना रहा था, अपने-अपने नाम की तख्ती बनवाकर अपने-अपने दरवाजे पर टांग रखी थी। उनमें से एक-एक ने अपने नाम के आगे वाले 'तिवारी' को, किसी ने त्रिवेदी में और किसी ने त्रिपाठी में परिवर्तित कर दिया था। इस बात को लेकर दोनों तरफ एक दूसरे के प्रति काफी गलतफहमी पैदा हो गई थी। तिवारीजी उन तख्तियों को पढ़कर कहते, 'लड़के नालायक हो गये हैं।' उधर लड़कों का कहना था कि : 'बाबा कंजूस हैं। उस दिन तो बारह आने पैसे का मुंह देखकर रह गये थे; और अब हम लोगों के दरवाजों पर अपने से अच्छी तख्ती टंगी देखकर डाह करते हैं।' यह कहना हम भूल ही गये थे कि फौज से तिवारीजी अपने साथ अपने नाम की एक तख्ती भी लाये थे जिसमें रोमन अक्षरों में टी० एन० बी० (T. N. B.) दर्ज था। उसे अपने बरामदे में कच्ची (मिट्टी की) भीत में बीचों-बीच एक लोहे की मोटी कील ठोंककर टांग रखा था। तिवारीजी कहते कि बाप-दादों का नाम बिगाड़कर लड़के उसका फल भोग रहे हैं। उनका विश्वास था कि तिवारी से त्रिवेदी या त्रिपाठी हो जाने के कारण ही उनमें तिवारी वाला उतना असर नहीं रह गया है वर्ना वे सबके सब अब तक ऊंचे ओहदे तक पहुंच गये होते। उधर उन तरुणों का कहना था कि जहां जाओ वहीं गांव के नाम के साथ अमुक तिवारी बताते ही पूछने वाले यही कहते हैं कि क्या टी० एन० बी० के खानदान के हो? और हां कहने पर सुनने वालों में से कोई न कोई कह ही देता है कि वही तिवारी नाम-बिगाड़ू न? सो तिवारी की छूत से बचने के लिये ही वे त्रिपाठी या त्रिवेदी बन बैठे थे। परिणामस्वरूप तिवारी जी कहते कि वे सब नाम-बिगाड़ू हैं; और वे सब कहते कि बाबा स्वयं ही नाम-बिगाड़ू हैं। वे कहते ही नहीं थे। एक बार तो जब तिवारीजी 'पिनसिन' लेने शहर गये थे, उन लोगों ने खड़िया मिट्टी से उनके नाम वाली तख्ती पर टी० एन० बी० के नीचे हिन्दी में कोष्ठक में 'तिवारी नाम बिगाड़ू' लिख भी दिया था।

●

१५ : ये मिट्टी के माधव

० ० ०

उस जमाने की बात है जब फ्रांस और जर्मनी के बीच लड़ाई छिड़ी हुई थी। एक दिन जर्मन सेना ने फ्रांस का कोई नगर जीत लेने के बाद वहां रात भर लूट-पाट की और सवेरे शहर पर फौजी शासन बिठाकर एक तरफ सेना का पड़ाव डाल दिया। संध्या समय जर्मन अफसर आपान-गोष्ठी में मौज लेने के लिये पड़ाव के सामने वाले चौक में एकत्र हुए।

रात में लूट-पाट करके लायी हुई समस्त सम्पत्ति का तो वे दोपहर तक आपस में भले-भले बंटवारा कर चुके थे, पर एक चीज ऐसी रह ही गयी थी जो किसी के हिस्से में नहीं पड़ पायी थी। जनरैल साहब ने बारी-बारी से अपने सभी लफ्टंटों और कप्तानों से पूछा था, किन्तु उसे अपने पास रखने के लिये एक तैयार न था। शायद वे लोग यह सोच रहे थे कि वह चीज जनरैल साहब खुद

अपने लिये रखना चाहते थे। अतः उनका ख्याल था कि उसे लेने से इनकार करके वे एक प्रकार से अपने 'चीफ' को उपकृत कर रहे थे। परन्तु जब 'चीफ' ने भी उसे अपने पास रखने में अनिच्छा प्रकट कर दी तो परिस्थिति ने एक अजीब रंग पकड़ा।

वास्तव में वह चीज बड़ी अनमोल थी, इतना वे सभी समझ रहे थे, किन्तु कितनी कीमती थी, इसका अन्दाज लगाने में वे सबके सब असमर्थ थे। एक कल्पित बहुत बड़ी कीमत वाली सम्पत्ति में कुछ अपना भी हिस्सा है यह बात उस समय प्रत्येक के मन में बस गयी थी। यही कारण था उसे किसी कमरे में डालकर भूल जाने के लिये उस समय उनमें से एक भी तैयार न था।

दोपहर में यह तै करके कि शाम को उसका निबटारा किया जायगा, उस समय तो मामले को ठण्डे बस्ते में डाल दिया गया था, किन्तु अब शाम को एक दौर ढल चुकते ही उन सबके सामने सिर निकालकर वह समस्या आ खड़ी हुई। उस समय वे लोग किसी तरह की उलझन में नहीं पड़ना चाहते थे, क्योंकि उलझनें मानसिक क्लेश पैदा करती हैं और आपान-सभा में किसी भी प्रकार की उलझन उन्हें सह्य न थी। अतः आरम्भ में उनकी प्रतीक्षा और अंशतः उद्विग्नता स्वाभाविक ही था। किन्तु काफी देर तक जब कोई उपाय किसी को न सूझा, तब उन्हें उलझन हुई और वह उलझन इतनी गाढ़ी बन चली कि अफसरों में से एक ने कह ही डाला कि इतनी माथा-पच्ची करके तो अब तक पेरिस पर भी कब्जा कर लिया गया होता। और फिर शीघ्र ही उनकी उलझन और झुंझलाहट संजीदगी के उस खतरनाक दायरे में जा पहुँची, जहाँ पहुँच जाने पर गम्भीरता प्रायः उपहास में, और उपहास अपघात में परिणत हो जाया करता है।

दूसरे और तीसरे दौर भी चले। फिर उसी खतरनाक क्षण में जिसका अभी-अभी हमने उल्लेख किया है, उन अफसरों में से एक एकाएक बोल उठा:—'बस जी बस! हम में से एक भी इसके योग्य नहीं है। यह साबित हो चुका। तो अब जो सबसे अधिक योग्य व्यक्ति मिले, उसे ही उपहार में यह दे दी जाय।'

इन शब्दों में न जाने कौन-सा अर्थ पा एक अन्य अफसर ने कुछ गरजते हुये पूछा—'कौन है सबसे अधिक योग्य व्यक्ति?'

'जो दुनिया भर में सबसे बढ़कर भूठा आदमी हो !' खटाक से उत्तर मिला।

बड़ी खैरियत हुई जो उपहास तब तक वह गाढ़ा रंग नहीं पकड़ पाया था जिसमें पड़कर उपहास का पर्यावसान अपघात में हो जाया करता है, वर्ना तब प्रश्न-कर्ता यह पूछता कि, 'कौन है दुनिया भर में सबसे बढ़कर भूठा आदमी ?' और उसी तरह तड़ाक से उत्तर मिलता कि 'तुम ! और दूसरा कौन ?' और तब तलवारें खिच उठतीं, और सिर पूंछ जाते ? किन्तु यह सुनते ही कि जो दुनिया भर में सबसे बढ़कर भूठा आदमी हो, उसी को वह बहुमूल्य वस्तु भेंट कर दी जाय। उन सबको एक नई कल्पना मिल गयी। सबके सब एक साथ ही ठहाका मारकर हंस पड़े। सौभाग्यवश वहां से एक पादरी महाशय गुजरे !

वह बहुमूल्य 'वस्तु' टेबल पर खड़ी थी ? उन्होंने उसे देख लिया था परिस्थिति की विवशता एवं अवांछनीयता की भरपूर कल्पना करके वह भीतर ही भीतर बहुत क्रुद्ध और उत्तेजित हो रहे थे। अफसरों का अट्टहास सुनकर उन्होंने यही समझा कि यह उनका ही उपहास हो रहा है। वह ठिठक कर खड़े हो गये। मैदान छोड़कर हट जाना वे कायरता समझते थे।

टेबल पर टिकाकर रखी हुई वह मूल्यवान् 'वस्तु' उस नगर के 'पेट्रन सेंट' (अधिष्ठाता सन्त) या 'डीह' की एक 'आएल-पेन्टिङ्ग' (तैलीय-तस्वीर) थी।
जैसे उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों और समूचे बिहार में प्रत्येक गांव का एक ग्राम-देवता या डीह होता है, वैसे ही फ्रांस के प्रत्येक गिर्जाघर, कस्बे और नगर का भी एक अधिष्ठाता संत हुआ करता है। हमारे डीहों के समान वह भी अपने पुण्य-प्रताप से वहाँ के निवासियों का मुद्-मंगल-दाता और उनकी समस्त बाधाओं का शमनकर्ता माना जाता है। मेरी धारणा है कि अपने पूजा-विधान में ही नहीं, चर्च के संगठन में भी बौद्ध बिहारों की पूजा-पद्धति और संगठन से रोमन-कैथालिक पंथ कुछ प्रभावित रहा है। आज हमारे 'डीह' केवल 'ढूहा' हो रहे हैं, पर किसी समय वे 'दीर्घ' अवश्य थे। डीह का थान (स्थान) 'डिहवार' कहलाता है। 'दिघवारा' बिहार में एक प्रसिद्ध स्थान है। ये दोनों ही शब्द 'दीर्घद्वार' का अपभ्रन्श जान पड़ते हैं। शायद बौद्ध बिहारों के प्रमुख द्वार पर कोई दीर्घ पुरुष (महास्थविर) बैठाये जाते रहे हों जिनके परिनिर्वाण के बाद वहां उनकी प्रस्तर प्रतिमा पधरा दी जाती रही हो। राजपूती काल राज-सदन के मुख्य द्वार पर

शायद पहले सिंह ही (सदेह या समान डाढ़ी-मूंछवाले सिंह पुरुष !) और बाद में एक जोड़ी पत्थर के सिंह नियुक्त होने से तोरण को सिंहद्वार भी कहा जाता था। यह भी हो सकता है कि प्रत्येक गाँव के किसी काल्पनिक ग्राम-देवता या उस गाँव के किसी प्राचीन काल के वीर पुरुष की समाधि पर गाँवों के सबसे ऊँचे स्थान में मन्दिर बनाया जाता रहा हो, और स्थान की ऊँचाई के ही कारण वह दीर्घ या डीह पुकारा गया हो।

अपने डीहों और फ्रांसीसी 'पेट्रन-सेन्टों' में मेरी निदर्शित इस समानता के विषय में भले ही किसी को सन्देह हो, पर इस बात में किसी को भी सन्देह नहीं होना चाहिये कि उनके कानों में जो शब्द पड़ चुके थे, उतने ही से पादरी महोदय सब-कुछ समझ चुके थे, अतः अब उन्हें कुछ विशेष जिज्ञासा अभीष्ट न थी; और उनके वहाँ ठिठककर थम जाने का उद्देश्य उन जर्मन अफसरों को उनकी घृष्टता और उसके अधर्माचरण पर उन्हें कस कर डाँटना ही था। उन्हें डर काहे का ? खुदा के बन्दे और बाबा लोग किसी से नहीं डरते! धर्म और श्रद्धा की स्थापना और पोषण में अपरिमित परितापों और यातनाओं की प्रचन्ड आँच में तपे और गले हुए महापुरुष-पेट्रन-सेन्ट या डीह-की तस्वीर उतार लाना ही क्या कम जघन्य अपराध था ? और फिर उस पवित्र चित्र को सामने रखकर सरे आम यह एलान करना कि दुनिया भर में जो सबसे बढ़कर झूठा आदमी होगा उसी को वह भेंट में दी जायगी, जले पर नमक छिड़कना नहीं तो और था क्या ? धर्म और चर्च का अपनी आँखों के सामने ऐसा भीषण तिरस्कार हो रहा देख बेचारे पादरी का कलेजा मुंह को आ रहा था !

अफसरों का अट्टहास क्षण भर के लिये थमा ही था कि बड़ी तेजस्विता के साथ पादरीजी ने प्रश्न किया—'सन्त बन्नाद का चित्र यहाँ क्यों ऐसे रखा हुआ है ?'

'इससे तुमको मतलब ?' अफसरों में से एक ने जवाबी सवाल किया।

'मुझको मतलब नहीं होगा तो और होगा किसको ? सन्त बन्नाद हमारे हैं, इस चर्च के हैं, इस नगर के हैं। वे ही इस नगर के पेट्रन-सेन्ट हैं। क्या तुम लोग उनका यह चित्र नीलाम करोगे ?'

'नीलाम नहीं करेंगे, मुफ्त में देंगे। पर तुमको नहीं देंगे।'

'तब किसको दोगे ?'

'जो दुनिया भर में सबसे बढ़कर झूठा आदमी मिलेगा, उसी को देंगे ! उसे अपने साथ पिलायेंगे, खिलायेंगे और फिर सम्मान सहित यह चित्र उसे भेंट कर देंगे।' फौजी अफसर ने कहा।

यह सुनकर एक तरफ तो फौजियों ने कहकहे लगाये, किन्तु दूसरी तरफ पादरी महोदय को जैसे बिच्छू ने डंक मार दिया ! वह हड़बड़ाकर बोले :—'हे भगवान् ! ऐसा अनर्थ ! पाप शान्त ! पाप शान्त ! कम से कम, हमने तो जीवन में कोई झूठ कभी बोला नहीं है ?'

अन्य अफसर तो अपनी-अपनी धुन में मस्त होने के कारण पादरीजी का अन्तिम वाक्य ठीक तरह से सुन नहीं सके थे, किन्तु उनमें से एक ने जो पादरीजी के अधिक निकट पड़ता था, सब सुन लिया। अपने साथियों को चुप रहने का इशारा करके वह चिल्ला कर बोला—

'साथियो ! मिल गया, मिल गया, मिल गया ! इसको ही दे डालो। यह कहता है कि इसने जीवन में कभी कोई झूठ कहा ही नहीं है !'

समस्त अफसरों ने तुमुल करतल ध्वनि के साथ इस प्रस्ताव का समर्थन किया। जरनैल साहब ने तुरन्त अपना निर्णय सुनाया। बोले—'बिलकुल ठीक कहते हो जी तुम ! जो आदमी यह कहता है कि उसने जीवन में कोई झूठ कभी बोला ही नहीं है, बेशक उससे बढ़कर झूठा आदमी दुनिया भर में कोई और मिल नहीं सकता। इस चित्र को उपहार में प्राप्त कर लेने की पूरी योग्यता रखने वाला यह महापुरुष हमें बिना ढूंढ़े मिल गया है। अब यह तसवीर आओ इसे अविलम्ब दे ही दी जाय !'

'चीफ' के आदेश से एक अफसर उस चित्र को उठाने के लिये टेबुल की तरफ लपका, किन्तु उसे चुपचाप ग्रहण करके दुनिया भर में सबसे बढ़कर झूठा आदमी प्रमाणित हो जाने के लिये पादरीजी तैयार न थे। फौजियों के आपान-समारोह में शरीक होना भी उन्हें शायद पसन्द नहीं था। पादरी जो ठहरे ! अपने 'पेट्रन-सेंट' की आयेल-पेंटिंग को मुफ्त में प्राप्त कर लेने की तीव्र अभिलाषा भी उनके पैरों को बाँध न सकी। एकदम बगटुट भाग खड़े हुये। चीफ का इशारा पाकर वह अफसर तस्वीर को हाथों से ऊपर उठाए पादरीजी को पकड़ने के लिये

उनके पीछे दौड़ चला। कुछ दूर की दौड़ हो चुकने पर पादरी के निकट पहुंचा हुआ अफ़सर ललकार कर बोला :—

'अबे पादरी के बच्चे ! इसे लेता है तो ले, नहीं फेंकता हूँ गटर में !'

पादरीजी धर्म-संकट में पड़ गये और रुक गये। चित्र को असम्मान से बचाने के लिए उन्होंने स्वयं असम्मानित होना स्वीकार किया। लौट पड़े। क्या करते ? बाँहें पसारकर पेन्टिङ्ग ले ली। फौजियों के गिरोह में किलकारियां उठीं, उछल-कूद मची। तालियां वजीं, कहकहे लगे। बात खतम हुई।

बात खतम हुई। पर बात खतम नहीं भी हुई। एक दृष्टि से पादरी महाशय की आप तारीफ करेंगे। तारीफ मैं भी करूंगा। हां, जर्मन अफसर की वैसी निन्दा शायद मैं न कर पाऊंगा जैसी आप। यद्यपि उन अफसरों से मुझे यह शिकायत अवश्य बनी रहेगी कि उपहार देने का मानदण्ड (स्टैंडर्ड) इतना ऊंचा करके पादरी जी की कोटि के महानुभावों को उनके योग्य भेंट देने की कठिनाई वह हमारे-आपके समक्ष सदा-सदा के लिए खड़ी कर गये। एक अन्य दृष्टि से विचार करने पर हमें तो वह पादरी महोदय बड़े अथवा मझोले भले ही न हों, पर मिट्टी के छोटे माधव जरूर जान पड़ते हैं। मैं तो अपने हृदय पर हाथ रख कर कह रहा हूँ। वे लोग भी, जिन्होंने कभी संकल्प किया हो; अपनी छाती पर हाथ रखकर कहें। जीवन भर सत्य बोलना तो खैर एक बहुत बड़ी बात है, एक भी झूठ न बोलने का दो-चार साल के ही लिये कोई संकल्प करके देख लें कि कैसी कटती है ? कैसी भी कटे ! दो-चार-साल क्या, वह अपना शेष जीवन ही एक भी झूठ बोले बिना भले ही काट दे। पर इससे क्या ? बचपन में तो वह एक-दो बार झूठ बोला ही होगा। हवा चले तो पेड़ का ऐसा कौन-सा पत्ता होगा जो अन्य समस्त पत्तों के हिलते रहने पर भी स्थिर बिना हिले बच जाये ? सच तो यह है कि हवा जरा मजे में बह जाय तो पत्तों को कौन कहे, समस्त डालें, और कभी-कभी मोटी-मोटी डालियां तक हिलने लगती हैं। मनुष्य का चोला पाकर, अपने चौगिर्द असत्य, अर्धसत्य और अतिशय अन्तर्मुखी सत्य से घिरे हुये अभागे मानव के लिये चाहने पर भी सत्यवादी हो पाना कितना कठिन है। फिर भी यदि कोई यह कहना चाहता है कि उसने जीवन में कभी कोई झूठ बोला ही नहीं है तो हम उसे मिट्टी का माधव नहीं तो क्या असली माधव कहेंगे ? सचाई यह है कि जो लोग किसी को उसके किंचित् झूठ के लिये उचित से अधिक प्रतारणा

करके प्रकारान्तर से अपने को सत्य का अवतार और रखवार बताना चाहते हैं, वे भी हमारी निगाह में, मिट्टी के माधव ही हैं।

सत्य की अनिर्वचनीय गहनता और मानव-बेवसी का स्वल्प आभास हमें महात्माजी के उस कथन में मिल जाता है, जिसका उल्लेख श्रद्धेय श्री रामनरेशजी त्रिपाठी ने एक बार मुझसे किया था। स्वराज्य की स्थापना के बाद की बात है। त्रिपाठीजी ने एक बार बापूजी से पूछा कि उन्हें स्वराज्य-प्राप्ति में सत्य और अहिंसा इन दोनों में से अधिक बल किससे मिला था? छूटते ही बापूजी ने उत्तर दिया कि अहिंसा से। इस पर त्रिपाठीजी ने अपनी 'नैसर्गिक बिनोदानन्दी विशैली' में (ये मेरे शब्द हैं त्रिपाठीजी के नहीं) कहा कि बापू! सत्य आपका पुत्र और अहिंसा आपकी पुत्री है। आज पुत्री को पुत्र से अधिक मान देने की प्रथा है; सो आपने कौन-सा नया काम किया? प्रथा-पालन ही तो किया! कहते हैं कि यह सुनकर बापू एक क्षण मुसकुराये और फिर गम्भीर होकर कुछ वेदना-मिश्रित स्वर में बोले—'भाई! सत्य के स्वरूप का पूर्ण दर्शन तो मुझे अब तक एक बार भी नहीं मिला। कभी-कदा सत्य की एक हलकी-सी जो झलक मिल पायी है, उसीसे सन्तोष करना पड़ा है।"

जो सत्य के सच्चे आराधक हैं, वे ऐसा ही कहते हैं। मिट्टी के माधवों की तरह वे दम्भपूर्वक यह नहीं कहते कि वे जीवन में झूठ कभी बोले ही नहीं हैं। सच है, सत्य के सम्पूर्ण स्वरूप का दर्शन किसको हुआ है? और असम्पूर्ण सत्य का प्रबल आग्रह क्या स्वतः में एक जबरदस्त असत्य नहीं है? सत्य तो सतत विकसित अनन्त-दल कमल है। जिस किसी को उसकी एक पंखुड़ी प्राप्त हो गयी मानो उसका जीवन सफल हो गया। न्यूटन ने यही तो कहा था। जैसे महासमुद्र में नाविक को कभी अकस्मात् किसी वरुण-किशोरी की एक झलक मिल जाती है, अथवा उसके दिव्य संगीत की कोई गमक उसे सोए से जगा जाती है, और वह उतने में ही तड़प-तड़प उठता है। फिर वह अपने पूर्ण पुरुषार्थ के साथ जीवन-भर समुद्र में संतरण करते-करते प्राण भी दे दे, पर वरुण-बालिका प्राप्त नहीं होगी, जगत् के महार्णव में सत्य का भी ऐसा ही निवास है, 'जानत सोइ जेहि देइ जनाई' तुलसीदास ने कहा है। और 'सत्य कहत राजा! जिउ जाऊ!' जायसी जी कहते हैं। और मजा यह कि सत्य का कोई भी पक्ष जड़ या स्थायी नहीं। अन्वेषण के साथ-साथ पल-पल परिवर्तित 'अचिर' वेष! अतः सत्य के किसी भी पक्ष को सर्वथा निरपेक्ष सत्य मानकर सदा-सदा के लिये उसे ज्यों का त्यों जकड़ रखना उसे एक ऐसे निर्जीव उपहासास्पद सत्य में परिवर्तित कर देना है, जिससे

कहीं अधिक प्राणवान कितने ही की दृष्टि में उज्ज्वल सत्य है, कुछ दूसरे लोगों की दृष्टि में एकदम काला झूठ दिखता है। इसी से किसी समझदार ने एक अवसर पर यहां तक कह डाला था कि—'सच और झूठ नाम तो मनुष्य के द्वारा मनमाने दे दिये गये हैं। सच को झूठ, और झूठ को सच कहकर पुकारा जाय तो भी कुछ खास फर्क नहीं है! और एक शायर ने कहा कि :—

दुनिया है जिसका नाम, वह है नुक्तये नजर।
वह भी नहीं है, आंख जब कि बन्द हो गई॥

वकील-बैरिस्टरों, व्यापारी-महाजनों और राजनीतिक दलबन्दी के दलदल में फंसे हुए भलेमानसों को छोड़ दीजिये, क्योंकि झूठ का सहारा लिये बिना इन बेचारों का कारबार ही नहीं चल पाता! पर जिन श्रीमानों ने पहले कभी झूठ का सहारा लेना पसन्द नहीं किया था और जो समाज में ऐसी जगहों में स्थित हैं, जहां झूठ बोले बिना भी काम चलता रहा है, और चल सकता है, आज जब हम उनको भी झूठ बोलते हुए पाते हैं, तब उस फक्कड़[1] की याद आ जाती है जिसका कहना था कि :—'भगवान् ने आखिर झूठ को बोलने के ही लिये तो बनाया है!'

पाठक! मैं यह सब झूठ का समर्थन करने, या सत्य भाषण के लिये किये जानेवाले संघर्षों और प्रयासों को सारहीन बताने के उद्देश्य से नहीं कह रहा हूँ। सच तो यह है कि सत्य बोलने के लिये संघर्ष और प्रयास करना ही तो मानव के बश में है मैं यह सब उन मिट्टी के माधवों के रंगे-पुते व्यक्तित्व के भीतर छिपा उनके दम्भ को उजागर कर देने के लिये कह रहा हूँ जो यह जानते हुए भी कि अभागे मानव का अपनी इस दुनिया में पूर्ण सत्यवादी होना बहुत कठिन है, अपने आपको संसार की निगाहों में दूध का धोया हुआ प्रमाणित कर देने के लिये, मौका पाते ही दूसरों के सम्बन्ध में सही या गलत सुने-सुनाये स्खलन को एकदम सच्चा मान, उछाल देना अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं।

---

[1]कैलासवासी महान् योगी पिरथी साह ने अपने एक 'सबद' में फक्कड़ परिभाषा यों दी है :—

गम को खाना कहीं न जाना, जग को औघड़ कहते हैं।
सबद सही पद भाखै आला, ताको फक्कड़ कहते हैं॥
राम नाम को भरा खजाना, चरन बन्दगी करते हैं।
'पिरथी साह' अनन्दमई, सन्तोष शहर में रहते हैं॥

यों तो हर युग और हर समाज में ये मिट्टी के माधव होते ही आये हैं, किन्तु आज हमारे देश और समाज में इनका काफी बोल-बाला है। अब तक हमारे यहाँ मिट्टी के छोटे और मझले माधव ही दिखाई देते रहे हैं; परन्तु इधर थोड़े दिनों से इनके बड़े भाई भी दर्शन देने लगे हैं। यथा नाम तथा गुण! ये बड़े भाई माधवपन में छोटे और मझले माधवों की अपेक्षा बहुत आगे हैं। मिट्टी के छोटे माधव तो अधिकतर अपने ही में डूबे रहते हैं। वे यह जानते हैं कि सचाई, ईमानदारी और सदाचरण का जीवन निर्वाह करने के लिये बहुत-सी वासनाओं और क्षुद्र स्वार्थों को दमन करना पड़ता है। यानी लोहे के चने चबाने पड़ते हैं। उन्हें इस बात का भी आभास रहता है कि लोग उन्हें ढोंगी समझते हैं, इसलिये दिन-रात नाना उपायों से अपने को सत्यवादी, ईमानदार और सच्चरित्र बनाने में अपने ढंग से रत रहते हैं। अपना सारा समय और साधन अपने ही रंग में खर्चते रहने के कारण दूसरों को नुकसान पहुँचाने का इन बेचारों को समय ही नहीं मिलता। प्रायः ये अच्छे आदमी होते हैं, यद्यपि एक प्रकार से दुनिया से भागे हुए लोग। ये आत्मप्रशंसा के रोग से अकसर ग्रस्त रहते हैं और यही वजह है कि उन पादरी महोदय की तरह कभी-कभी बहुत उपहासास्पद बन जाते हैं।

मझोली रासवाले मिट्टी के माधव अपेक्षाकृत सचेष्ट, उग्र और चालाक होते हैं। उद्दण्डता और दुःशीलता की खुर्दबीन (सूक्ष्मदर्शक यन्त्र) आँखों पर डटाये ये अपने पड़ोसियों और विशेषरूपेण अपने परिचितों पर अहर्निश अपनी नजर गड़ाये रहते हैं। किसी की कही हुई किसी भी बात में या किसी के किये हुए किसी काम में यदि कहीं कोई खोट इन्हें दिखाई दे गयी और खोट हो या न हो; इन्हें तो कोई न कोई दिखायी देती ही है, तो फिर वे शान्त बैठ न सकेंगे। दूसरों की राई बराबर झूठ, बेईमानी या चारित्रिक स्खलन को ये पर्वत बतायेंगे, और दूसरों के बीच उसकी इस ढंग से चर्चा करेंगे मानों सत्य, ईमान और सच्चरित्रता के असली 'मौडेल' वे ही हों! सुनी-सुनाई बातों के ही आधार पर वे किसी भी चरित्रवान् व्यक्ति के चरित्र को सन्दिग्ध मान लेने में किंचित संकोच नहीं करते और फिर बड़े आक्रोश के साथ उस व्यक्ति को सकल समाज की नजरों में हर गुप्त और प्रकट तरीके से कलुषित बताने के अपने प्रयास में कोई कसर उठा नहीं रखते। किन्तु पता लगाइये तो मालूम होगा कि दूसरों के जिस तथाकथित दुर्गुण के खिलाफ ये जेहाद बोले रहते हैं, वास्तव में उस दुर्गुण के सबसे बड़े आगार हजरत वे स्वयं ही होते हैं! सच्चा चरित्रवान् व्यक्ति न तो किसी के चरित्र पर सन्देह करता है और न किसी दुश्चरित्रता की चर्चा में कभी कोई रस लेता है। उसके सम्पर्क में आकर चरित्र-हीन व्यक्ति

भी चरित्रवान् बन जाता है। दूसरों को नंगा कर देने के तो प्रत्येक मनुष्य के जीवन में घने अवसर आते हैं, किन्तु किसी नग्न हो रहे प्राणी को उघड़ जाने से बचाकर अपना जीवन सफल कर लेने का सौभाग्य बिरलों को ही प्राप्त होता है। यह बात एक चरित्रवान व्यक्ति ही जानता है जिसकी प्रत्येक सांस से यही स्वर निकलता है—

मत कहो गर बुरा करे कोई।
मत सुनो गर बुरा कहे कोई।।
रोक लो गर गलत चले कोई!
बख्श दो गर खता करे कोई।।

जिस समाज में लोग यह सब नहीं जानते और जानना नहीं चाहते, उस मट-मैले समाज में मिट्टी के ये मझोले माधव ही बहुत दिनों तक महामानवता और सच्चरित्रता के आदर्श बने रहते हैं। उत्तम, मध्यम और अधमजनों के पारस्परिक सम्बन्ध-निर्वाह का रवीन्द्रनाथ ठाकुर की पंक्तियों में किस सारगर्भिता के साथ उल्लेख हुआ है, यह मननीय है:—

उत्तोम निश्चिन्ते चोले, ओधोमेरे शाते।
तिनी मोद्धिम जिनी चोलेन ।ताफाते।।

अर्थात् उत्तम (जन) निश्चिन्त चलते हैं अधम (जनों) के साथ और मध्यम वे हैं जो चलते हैं दूर-दूर!

और मिट्टी के बड़े माधव? ये तो बहुत चतुर और व्युत्पन्नमति होते हैं यही वे लोग हैं जो आप के सामने कोई निर्झरणी लहरा देंगे। आपको तैराकी के लिये उत्तेजित करेंगे। कपड़े उतार कर कूद पड़ने के लिये उकसायेंगे और लंगोटा न रहा तो वह भी बाँध देंगे। पर बाद में, धारा में आपके कूद पड़ते ही यह शर्त लगा देंगे कि ऐसे तैरो कि देह में पानी लगने न पाए? अब आप झख मारिए; जहन्नुम में जाइये। आप तैरिए या न तैरिये, बाहर तो निकलेंगे ही। और तब आपकी देह में पानी की बूंदें और पैरों में कीचड़ लगा देख वे आपको तब धर दबोचेंगे। यही वे लोग हैं जो गरीबों के ईमान और 'सत्त' की कठोर परीक्षा लेते हैं और उसके लिए तरह-तरह के खेल रचाया करते हैं। कभी घर में कोई कीमती चीज इधर-उधर छोड़ देते हैं या बेचारे नौकर को पचास से दो-चार अधिक रुपयों

के नोट पकड़ा कर कहते हैं कि लो ये पचास रुपये, और कल झिनकू सा की दूकान से पचास रुपए का जो उधार घी लाये थे वह चुका आओ; किन्तु अफसोस कि सत्ता का पूरा उत्तर जान उस नौकर को उसके उपयुक्त सम्मान देने की ये मटमैले माधव हैसियत नहीं रखते। और यही वे लोग भी हैं, जो किसी के सम्बन्ध में खुद तो आपसे उल्टी-सीधी बातें कहते हैं, पर अगर आपने उनकी हां में हां न मिलायी तो वे सब कुछ अपना कहा आपके ही मुंह में रखकर 'नांय-मांय' (यहां-वहां) पहुंचा देते हैं और अपने इस कुकर्म में यदि कभी पकड़ लिए गये तो अपना पाप दूसरे के शिर पर जल्दी थोप देने के लिए अपने दुष्कर्म में इतने प्रचण्ड वेग से उमड़ते हैं कि थोड़ी देर के लिए ऐसा लगता है कि अब उस बेचारे को मारकर, जलाकर उसकी राख हवा में उड़ाकर और पानी बहाकर ही वे दम लेंगे, पर ये माधव परम चतुर होते हुए भी यह सीधी-सी बात नहीं जानते कि दुष्टों, खलों और दूसरों की कीर्ति का अपहरण करने वालों के अभिप्राय सिद्ध नहीं होते। केवल इसी करण यह दुनिया चल रही है वर्ना इन आततायियों ने उसे कभी का बैठा दिया होता। फलतः इन मटियाले माधवों का भण्डाफोड़ हो जाता है, जिससे कलह और विषाद की इनकी बोई हुई खेती बहुत पनप नहीं पाती।

बुद्धिजात सामाजिक समानस्तरता से सांपतिक समानस्तरता कायम की जा सकती है। किन्तु, किसी भी प्रकार की समान-स्तरता तब तक अधिक टिकाऊ नहीं हो सकती जब तक सामाजिकों में नैतिक समाज-स्तरता की भी जड़ न जमा दी जाय। और इन मटमैले माधवों की मनुहार किये बिना नैतिक समानस्तरता कभी समाज में प्रतिष्ठित हो नहीं सकती।

'अनुपस्थित व्यक्ति के सम्बन्ध में लांछनास्पद या अप्रिय प्रसंग छेड़ने वाला आदमी अत्यन्त नीच होता है।'

इस सूक्ति को याद रखना चाहिए, और ज्यों ही मिट्टी का कोई माधव, कहीं किसी अनुपस्थित व्यक्ति के सम्बन्ध में कुछ ऊटपटांग बातें कहना आरम्भ करे, तुरन्त इस सूक्ति को मन ही मन उसके बारे में दोहराना चाहिये। संसार के सभी सभ्य देशों में शिष्टाचार का यह एक सामान्य और सर्वसम्मत नियम-सा है कि चार आदमियों के बीच किसी अनुपस्थित व्यक्ति की टीका-टिप्पणी नहीं की जाती। हमारे समाज में भी प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है कि वह इस सूक्ति को याद रखे और अपने इष्ट-मित्रों कुटुम्बियों और पड़ोसियों को भी यथासम्भव मुखाग्र करा दे! मिट्टी के माधवों का यह सबसे सुगम और कारगर इलाज है।

●

१६ : गोशमाली

० ० ०

हालांकि 'गोशमाली' शब्द बड़ा ठेठ है और इसके बोलने में भी आसानी है, फिर भी जिन बन्धुओं को मालूम न हो उन्हें इस बड़े ही महत्वपूर्ण शब्द की जानकारी करा देना मैं अपना पावन कर्तव्य समझता हूँ। जिन्हें खरगोश शब्द का अर्थ मालूम होगा उन्हें गोशमाली का गौरव समझने के लिए 'माली' का अर्थ जानना आवश्यक होगा। फारसी में खर गदहे को गोश कान को कहते हैं। फारसी में गदहा जैसे खड़े-खड़े कानों वाले जन्तु को वैसे ही खरगोश कहते हैं, जैसे संस्कृत में हाथ वाले पशु को हस्तिन्, मृग या केवल हस्तिन् (=हाथी) कहा करते थे। और माली ? तो जनाब ! इसका सम्बन्ध किसी जमाली या कमाली-वाले माली से नहीं है। श्रीमान् ! इसका सम्बन्ध श्रीमाली या वनमाली वाले माली से भी नहीं है। इसका सम्बन्ध 'पामाली' या 'पायमाली' वाले माली से है ! और यह पायमाली ? भैया ! यह भी नम्बरी 'हिस्ट्री-शीटर' है।

फारसी का पाय या पा तथा संस्कृत का पाद या पद, लोग कहते हैं कि एक

ही भाई-बन्धु हैं। हमारा पांव या गाँव की बोली वाला पइयां फारसी पाय से लिया हो या संस्कृत पाद से आया हो, उर्दू और हिन्दी के 'नसीमों' और 'तुलसियों' ने—'जंजीरे जुनूं कड़ी न पड़ियो, आशिक का पांव दरमियां है', जैसी कड़ियों और 'पोंछि पसेउ बयारि करों, अरु पांव पखारिहौं भूभुरि डाढ़े'—जैसे पदों में तथा ग्राम-कवियों ने—'पईयाँ परौंगी पलका न चढ़ौंगी'—जैसी टेकों में इसे बहुत ही सुघर-सुमंगल बना दिया है। पर इस पाय में माली ने मिलकर पायमाल को पैर से मला हुआ यानी अत्यन्त पीड़ित और दुखित बना डाला है। शब्द के इसी मौलिक अर्थ में कविवर अनीस ने इसका प्रयोग अपने प्रसिद्ध निम्नांकित शेर में किया है :—

किसी का दिल न किया
पायमाल हमने कभी।
चले जो, राह में चिउँटी
को भी बचा के चले ।।

सम्भवतः यह फारसी माली या माल (शीरमालवाला) संस्कृत के मीलित (या मीलन = मींड़ना या मींजना) का ही दूसरा रूप हो। वैसे ही जैसे फारसी शीर और संस्कृत क्षीर, फारसी मुर्ग और संस्कृत मृग (जन्तु नहीं केवल शब्द !) तथा फारसी अस्प और संस्कृत अश्व एक ही शब्द हैं। अंग्रेजी के माल शब्द का भी करीब-करीब यही अर्थ होता है। लैटिन के मेल्लियेम अर्थात् मुद्‌गर से ही अंग्रेजी माल शब्द की व्युत्पत्ति मानी गयी है। संस्कृत मल्ल तथा लैटिन मेल्लियेम का शब्द-साम्य देखकर कल्पना होती है कि हो न हो, गदाधारी होने के ही कारण वीर पुरुष मल्ल कहलाते थे और मूलतः गदा से युद्ध करना ही मल्ल-युद्ध कहलाता था। अंग्रेजी भाषा का मीले शब्द जो हमारे मेला-तमाशावाले 'मेल' से पर्याप्त मेल खाता है और जिसका प्रयोग सर वाल्टर स्काट ने अपने 'आइवान हो' उपन्यास में मरदानों के मल्ल-युद्ध में गुत्थमगुत्थ होने के अर्थ में लिया है, इसी शब्द का एक रूप जान पड़ता है। पुराना अंग्रेजी कोश उठाकर देखिये उसमें माल शब्द का अर्थ गदा या मुंगरी से थूरना या भुरकुस कर डालना ही मिलेगा। किन्तु सत्रहवीं शताब्दी के आंग्ल-निघण्टुओं में माल शब्द का प्रयोग किसी वस्तु को गींजने या असावधानी अथवा रुखाई के साथ पकड़ने के अर्थ में मिलता है और इसका परिणाम क्या हुआ ? समय के परिवर्तन के साथ जैसे-जैसे इस माल शब्द के अर्थ में शिथिलता आती गयी, तैसे-तैसे 'गोशमाली' का गौरव और अस्तित्व ही, जन-जीवन में खफीफ होते-होते न्यून से न्यूनतम और आज अन्त में एकदम शून्य हो

गया है । यही कारण है कि आज इनसान कान का कच्चा होकर बेहद हलका हो रहा है ।

० ० ०

'द्रविड़ प्राणायाम' अर्थात् सीधे-साधे कान न पकड़कर, पीठ की तरफ हाथ घुमाकर पकड़ना कोई नयी बात तो है नहीं । आप कहेंगे कि गोशमाली का अर्थ बताने में अब तक हम भी द्रविण प्राणायाम ही तो कर रहे हैं । 'यस सर ! आई प्लीड गिल्टी !'–सरकार मुझे अपराध स्वीकार है । पर करूँ क्या ? गोशमाली की अन्तर-राष्ट्रीय महत्ता एवं उसका अतिशय अपार और अनन्त एवं अनिर्वचनीय गौरव होने के ही कारण उसका परिचय देने के लिये इतनी दूर से घेरा डालना अनिवार्य हो गया है । हमें इस बात की खुशी है कि गोशमाली का अर्थ आपको मालूम है या अब मालूम हो गया है । सच ही गोशमाली का अर्थ कान मलना, कान मीजना, कान उमेठना या कान गरमाना है । कान खींचने का भी गोशमाली में ही शुमार है । किसी समय यूरोप में गोशमाली का बड़ा बोलबाला था । अपने यहां भी कर्ण-छेदन या कर्ण-वेध के रूप में, कुछ और ही प्रकार से यानी कान खींचने की अपेक्षा कानों पर बोझ बनाये रखने में, इसकी पहचान हुई थी, उसकी चर्चा बाद में करूंगा, क्योंकि हम उन लोगों में नहीं जो पहले अपने घर में और तब मसजिद में दीया बालते हैं । हम तो उन थोड़े से लोगों में हैं जो मसजिद में चिराग रोशन करने के बाद ही घर में दीपक जलाया करते हैं !

० ० ०

अंग्रेजी का एक मुहावरा है—'टू लेंड दि इअर्स' अर्थात् कान उधार देना । यह मुहावरा ही इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि कम से कम ऐंग्लो-सैक्सन जाति में गोशमाली का बड़ा चलन रहा होगा । व्याख्यान देने वाला बीच-बीच में एक-दो बार अपने श्रोताओं को सम्बोधन करके कह उठता है—'लेडीज ऐण्ड जेण्टिलमेन ! प्लीज़ लेण्ड मी योर इअर्स' अर्थात् 'हे देवियो ! और हे सज्जनो ! आप कृपया अपने कान मुझे उधार दें !' पर किस लिए ? आखिर किसलिए ? यह बात न कभी कोई श्रोता पूछता है, और नहीं कोई वक्ता जानता है । लोग यही समझते हैं कि कान सुनने के लिए उधार मांगे जा रहे हैं और यह कोई नहीं सोचता कि जब हम सुन ही रहे हैं और वक्ता महोदय को देख भी रहे हैं, उस समय कान उधार मांगने की बात चलाने में कौन-सा तुक-ताल है ? वास्तव में कोर यहीं दबती है । मेरी घोषणा है या यह कहिये कि एक मौलिक रिसर्च है कि अंग्रेजी का यह मुहावरा आज खंडित रूप में ही प्रयुक्त हो रहा है । जिस पुराने मुहावरे का

यह प्रतिनिधि है उसके हिसाब से यदि कहा जाय तो यह कहना वाजिब होगा कि—'(सज्जनो और देवियो ! आप कृपया) लेंड मी योर इअर्स टु बी पुल्ड अप !' अर्थात् 'आप अपने कान मुझे उधार दीजिये, खिंचवाने या गरमवाने के लिए ।'

पाठक मेरी इस बेतुकी बात पर आप मन ही मन मुसकरा रहे होंगे ! आपका मुसकराना बेजा नहीं । ठीक ही तो है । आज अगर कोई वक्ता किसी श्रोता से उसका कान गरमाने के लिए उधार मांगे तो श्रोता लोग उसकी कैसी गत बना डालेंगे इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है । पर इस बात की कल्पना सहज ही आज नहीं हो सकती कि किसी समय प्रतिश्रुत बनने का सौभाग्य प्राप्त करने के लिए लोग जरूरत पड़ने पर कान खिंचवाने की स्वीकृति देना बड़े गौरव की बात समझा करते थे ।

प्राचीनकाल में रोम निवासियों में यह आम रिवाज था कि किसी के प्रार्थना करने पर जब कोई आदमी किसी मामले में गवाही देने के लिए राजी हो जाता था, तब अपनी स्वीकृति या रजामन्दी उसे उस युग के नियम के अनुसार एक खास ढंग से जाहिर करनी पड़ती थी । जिसने गवाही देने के लिए उससे प्रार्थना की होती उस आदमी के आगे वह अपना मस्तक जरा बढ़ा देता था और वह उसके कान छू कर छोड़ देता था । कान छुलाकर मानो वह अंगीकार करता था कि इसने किसी के दवाव से नहीं वरन् स्वेच्छा से ही साक्षी बनना सकारा है । इस ढंग से मानो वह यह भी तसलीम कर लेता था कि गवाही देते समय यदि वह कुछ भूलने लगे तो याद दिलाने के लिए उसका कान गरमाया जाना उसे मंजूर है । लैटिन के महाकवि होरेस के अनुसार रोम में होनहार गवाह से पहला प्रश्न यह पूछा जाता था कि 'लाइसेत आन्तेस्तारी' ? अर्थात् 'क्या तुम इस गिरफ़्तारी के साक्षी हो रहे हो ?' और उत्तर में उसे रोमन कानून की निम्न आयत का उच्चारण करना पड़ता था—'ईगो वेरो ओपोनो औरिकुलम !' अर्थात् 'मैं अपने कान प्रस्तुत करता हूँ !'

इस कान प्रस्तुत करने का अभिप्राय जरूरत पड़े तो कान खींचे जायं यही हुआ करता था । हमारी धारणा है कि अंग्रेजी का मुहावरा 'टु लेण्ड दि इअर्स' इसी लैटिन मुहावरे का वंशज है । लैटिन मुहावरे में जैसे कान प्रस्तुत करने का उद्देश्य कान गरमवाना है (चाहे कान तत्काल गरम न दिये जाय), वैसे ही अंग्रेजी मुहावरे में भी कान उधारी का तात्पर्य कान गरमाना ही है । लैटिन और अंग्रेजी

मुहावरों के बीच जो यह भिन्नता उपस्थित हो गयी है वह तब से अब तक के दीर्घ समय में परिवर्तित लोक-रुचि के ही कारण ।

रोम की सभ्यता और रोमन कानून के सच्चे उपासक, अनुरागी और अनुकरण-कर्त्ता राइन नद के दोनों तटों पर बसने वाले जर्मनों और फ्रांसीसियों ने गवाही के इस कानून में इतना गाढ़ा रंग और भर दिया कि गवाही देते समय भूल करने वाले या गवाही में आना-कानी करने वाले आदमी का कान गरमाना और उसके सिर के बाल खींचना ही नहीं, अपितु उसके सिर पर एक-दो घूंसे मारना भी फ्रांस में बहुत दिनों तक कानूनन जायज माना जाता था । यही कारण है कि किसी भी काम में शरीक होने की रजामन्दी प्रकट करने में जिस 'न पास फेयर तिरे लोरेय' फ्रांसीसी मुहावरे का प्रयोग वहाँ आज भी होता है । उसका शाब्दिक अर्थ है 'नहीं अपने कान खिचवाये जाने में मैं असहमत हूँ ।' सिनेमा में साथ चलने, शिकार-पार्टी में शामिल होने, अथवा किसी दावत में शरीक होने के लिए किसी मित्र के पूछने पर वहाँ इस 'न पास फेयर तिरे लोरेय' मुहावरे में ही उत्तर दिया जाता है ।

लैटिन के प्रसिद्ध साहित्यकार प्लिनी (प्लिनी प्रथम सन् २३ से ७६ ई० तक और उनके भानजे प्लिनी द्वितीय सन् ६२ से ११३ ई० तक) ने अपने किसी ग्रन्थ में उल्लेख किया है कि प्रत्येक मनुष्य के कान की लर (लटकने वाला कान का निचला भाग जिसमें वाली या कुंडल पहना जाता था) उसकी स्मरणशक्ति का केन्द्र स्थल होता है । इसी से कुछ लोगों का कहना है कि यूरोप में न जाने कितनी सदियों तक गवाहों की जो अनन्त गोशमाली होती रही है उसका सारा श्रेय उनके उक्त प्रातःस्मरणीय उल्लेख के नाते प्लिनी महोदय को ही मिलना चाहिये । कुछ 'प्लिनी-वादी' जन आज के तारुण्य, में विशेषतः छात्र दृष्टव्य अनुशासनाभाव (या उनके शब्दों में अनुशासनहीनता) की सारी जिम्मेदारी 'प्लिनी' के गोशमाली वर्धक उक्त उल्लेख के उपेक्षकों के ही माथे थोपते हैं । उनका कहना है कि स्कूलों में विद्यार्थियों की गोशमाली सदा-सदा के लिए बन्द करा डालने की इन प्लिनी विरोधियों की नादानी के ही कारण आज यह सारी 'इनडिसिप्लिन' फैली हुई है !

●

१७ : इनडिसिप्लिन (ख)

० ० ०

तो गोशमाली का तथाकथित 'इनडिसिप्लिन' से सम्बन्ध क्या है ? सच पूछिये तो अनुशासनहीनता, उच्छृंखलता या 'इनडिसिप्लिन का तो मैं अस्तित्व ही नहीं मानता। तरुणों की तथाकथित उच्छृंखलता केवल संयमाभाव (संयम की उनमें अनुपस्थिति) मात्र है। अतः तरुणों की तथाकथित अनुशासनहीनता की जिम्मेदारी उनके अभिभावकों, हमारे वर्तमान समाज या राजनीति, शिक्षकों और परीक्षकों और विद्यार्थियों सभी पर बराबर-बराबर आती है। हमारी आज की शिक्षा-परीक्षा-प्रणाली अब तक अंग्रेजों के विरासत-स्वरूप पाश्चात्य या सामी या सेमेटिक शिक्षादर्शों पर टिकी चली जा रही है। उसमें जब तक परिवर्तन नहीं होता तब तक हमारे तरुणों को उनके सही व्यक्तित्व की उपलब्धि हो नहीं सकती। शुद्ध भारतीय शिक्षा प्रणाली में आतंक (दण्ड-विधान या गोशमाली), अहंकार (विशेषतः टेकनिशियनों का अहंकार कि वे विद्यार्थियों को शिक्षित करते हैं) तथा अविश्वास (जिसका तांडव-नृत्य परीक्षा भवनों में होता है) को आधार नहीं

बनाया जाता था । किन्तु सामी शिक्षा-पद्धति इन्हीं तीनों को अपना आधार मानती है । इसीलिए वहाँ 'स्पेअर दी रौड, स्पाइल दी चाइल्ड' (अर्थात् डंडे को बराओ तो बच्चे को बगराओ !) जैसी लोकोक्तियों का प्रचलन है । सामी विचार परम्परा के अनुसार जीव या आत्मा सतत प्रबुद्ध, एक चेतन प्रकाशपुंज है जो शरीरधारी हो पुद्गलरूपी अन्धकार में अवरुद्ध हो जाने पर भी अपने को शिक्षित कर, अपने ही पुरुषार्थ से निर्ग्रन्थ हो जाने की क्षमता रखता है और देर-सबेर अपना उद्धार करने में सफल होता भी है । भारतीय शिक्षादर्शों के अनुसार शिक्षित व्यक्ति की शिक्षा का एक चतुर्थान्श उसे अपने परिवार और पड़ोस यानी समाज से, एक चतुर्थान्श अपने सहपाठियों से और केवल एक चतुर्थान्श अध्यापकों और पुस्तकों से प्राप्त होता है । शेष एक चतुर्थान्श स्वयं अर्जित कर अपनी शिक्षा को पूर्णता देना विद्यार्थियों का अपना कर्तव्य होना चाहिये । बारह आने की पूंजी को जो अपनी कमाई से कम से कम एक पूरा रुपया भी न बना सका वह कमासुत व्यापारी या जीवन-व्यापारी हो कैसे सकता है ?

यही वजह है कि 'मैं पढ़ाता हूँ' ऐसा कहने का अहंकार सच्चा अध्यापक कभी नहीं दर्शाता । वह तो यही कहता है कि 'कोई किसी को पढ़ाता नहीं, आदमी स्वयं अपने को पढ़ाता है । जो अपने को नहीं पढ़ाता उसे कोई भी पढ़ा नहीं सकता ।'

'गुरु प्रेम चिनगी जिन मेला । जे सुलगाई लेहिं ते चेला ।।'

जायसी के इन शब्दों में गुरु-शिष्य के सम्बन्ध का सुन्दरतम निरूपण है । शिष्य को प्रेम की एक चिनगी (चिनगारी) अर्थात् जीवन और जगत के प्रति एक विशेष प्रकार का मूल्य या रागात्मक वृत्ति की झलक देने वाला ही सच्चा गुरु है, और उसके दिये हुये एक ही स्फुलिंग से प्रेम और ज्ञान के पूर्ण आकार की अग्नि प्रज्वलित करने वाला ही सच्चा शिष्य है ।। आज के विद्यालयों—महाविद्यालयों और विश्व-विद्यालयों में भी—उक्त कोटि के अध्यापकों के अभाव के ही कारण इस तरह के आदर्श विद्यार्थियों का अभाव, अथवा संयम और अनुशासन का, जो चरित्रबल की वृद्धि के साथ-साथ अपने आप विकसित हो जाता है, आज उनमें अवरोध है । इसका एक कारण 'डाक्टरेट' रोग से 'पीड़ित' अस्वस्थ और अधकचरे अध्यापकों की भरमार है । एम० ए० की डिग्री हासिल करते-करते और कभी उसके कुछ पहले ही 'डाक्टरेट' में लगकर डेढ़-दो साल के भीतर डाक्टर बन बैठों में, दो-चार अपवाद स्वरूप छिट-पुट कहीं भले ही भिन्न कोटि के नजर आते हैं. सौ में नब्बों का 'डाक्टरेट' रूपी वृक्ष आदि से अन्त तक तिकड़म, चापलूसी और

दरबारदारी की ही खाद-मिट्टी और नमी से उगता और पनपता है। पढ़ने-पढ़ाने से इनका कभी कोई सरोकार नहीं होता, 'डाक्टरेट' की धौंस से धन्धे से लगकर नौकरी पक्की होते ही अगर नहीं के बराबर कुछ रहा भी होता है तो उसे वे तिलांजलि दे डालते हैं। मैं अन्य विषयों के डाक्टरों के बाबत कुछ नहीं कह रहा हूँ। पिछले आठ-नौ साल में हिन्दी ने जो दो-ढ़ाई सौ डाक्टर निकाले हैं, उनमें अस्सी प्रतिशत का यही हाल है। और मजा यह है कि डटकर पढ़ने-पढ़ाने वाले अल्प-संख्यक अध्यापकों को इन नये डाक्टरों द्वारा निधड़क 'सुपरसीड' कराया जा रहा है पर यह सब रोकने वाला कहीं कोई नहीं रहा है। अतः जैसी जमीन, वैसा पेड़, और जैसा पेड़ वैसा फल ! आज की शिक्षा की निष्फलता का यह भी एक कारण है। एक-दो उदाहरण अप्रासंगिक न होंगे :—

एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय के एक प्रसिद्ध हिन्दी-डाक्टर (डी० लिट्०) बी० ए० (प्रथम वर्ग) के विद्यार्थियों के समक्ष कबीर के सम्बन्ध में लेक्चर दे रहे थे। दो-तीन बार 'हठ योग' शब्द का उनके उच्चारण करने पर किसी विद्यार्थी ने इस शब्द का अर्थ पूछा। बड़े तपाक के साथ प्रोफेसर साहब ने कहा: 'परमात्मा के साथ आत्मा को हठपूर्वक मिला देने के लिये योगी जिस योग की साधना करता है वही हठयोग कहलाता है।' उनके इतना कहते ही उन विद्यार्थियों में से एक जो न जाने कैसे जानता था, खड़ा हो गया, और 'नो सर ! (महाशय ऐसा नहीं)' कहकर निम्नांकित श्लोक (जिसे प्रोफेसर साहेब का क्लास छूटते ही हमने उस लड़के से पूछकर नोट कर लिया था) बोल गया :—

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्चये।
सूर्याचन्द्र मसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते ॥[1]

प्रोफेसर महोदय ने उसे बैठ जाने का इशारा करके अपना लेक्चर जारी कर दिया !

एक दूसरे प्रसिद्ध विश्वविद्यालय के एक धुरन्धर डाक्टर किसी आधुनिक कवि की एक कविता इन्टरमीजिएट के विद्यार्थियों को पढ़ा रहे थे। चंचलता थी

---

[1] हकार सूर्य को और ठकार चन्द्रमा को कहते हैं, अतः सूर्य और चन्द्रमा (जिन्हें क्रमशः प्राण और अपान; पिंगला और इंगला या इड़ा; तथा यमुना और गंगा भी कहते हैं) की एकता से जो प्राणायाम होता है उसे ही हठयोग कहते हैं।

लहर रही' का अर्थ करने में उन्होंने हिमालय की उपत्यका में लहराने वाली चंच नाम्नी लता का हवाला दिया, क्योंकि छापे की चूक से 'चंचलता' शब्द के चंच और लता में थोड़ा अन्तर आ पड़ा था। कुआं झंकाने तक तो गनीमत थी, पर प्रोफेसर साहब तो पूरी कक्षा को हिमालय की घाटी झंका रहे थे। एक विद्यार्थी को यह असह्य हो गया। उसने एकदम खड़े होकर कह ही तो दिया कि 'महाशय ! यह चंच-वंच कुछ नहीं है। यह तो सीधे-सीधे चंचलता शब्द है, चंचल से चंचलता जैसे वंचक से वंचकता !' प्रोफेसर साहब का चेहरा दम भर के लिए उतर गया, फिर तमतमाकर बोले; 'बैठ जाओजी ! कुछ समझते-वमझते भी हो ?'

जिस सज्जनों को मेरी इस बात का विश्वास न हो वे श्री अशोक जी को प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम, बंबई के ठिकाने पत्र लिखकर ले सकें तो विस्तृत कैफियत ले सकते हैं। मेरे यह सब लिखने का कारण किसी प्रकार का राग-द्वेष नहीं है। कल्याणकारी सत्य अप्रिय भी हो तो उसे कहने में संकोच नहीं होना चाहिए। स्वयं एक विश्वविद्यालय में अध्यापक होते हुए भीमुझे इस अप्रिय प्रसंग की चर्चा करनी पड़ रही है, क्योंकि मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि विद्यार्थियों में आज जो 'इनडिसिप्लिन' दिखाई दे रही है उसके लिए विद्यार्थियों के बराबर ही इस कोटि के अध्यापक भी जिम्मेदार हैं। ये ही वे लोग हैं विद्या और चरित्र बल से जो विद्यार्थियों को प्रभावित करने की सफलता न प्राप्त कर राज-मार्ग छोड़ प्रलोभन वाली सस्ती गलियाँ पकड़ लेते हैं। कुछ विद्यार्थियों को छाँटकर उनसे नैकट्य स्थापित करने के लिए अपना सिगरेट केस उनके सामने बढ़ाते हुए बड़ी बेतकल्लुफी से कहते हैं; 'मिओजी ! नाउ यू आर ओल्ड एनफ टु बिगिन !' 'शठ सुधरहिं सत संगति पाई।' तुलसीदास का कथन है। सो इनकी संगत में पड़कर सरल-से-सरल युवक भी अल्पकाल में ही एकदम 'अपटुडेट' बनकर, गुरुजनों के अनादर को अपरप्रणेयत्व, अपराधियों के जघन्य अपराध पर भी ध्यान न देने को महानुभावता; पराभव सहन करने को क्षमाशीलता, और भले-बुरे में भेद न मानने को निष्पक्षपात समझने लगता और थोड़े दिनों में 'परम हंस गति' को प्राप्त कर लेता है। यह बात नहीं कि सभी तरुण अध्यापक एकदम निकम्मे, और सभी वयस्क दूध के धोये हुये हैं। तरुणों में भी कोई-कोई अत्यन्त सौम्य, कर्तव्य-परायण एवं चरित्रवान् पाए जाते हैं, पर अपेक्षाकृत बहुत कम। अपना सबसे ऊंचा पीढ़ा प्राप्त करते ही या तो विद्यापीठ के सबमें बड़े 'पीढ़े की प्राप्ति के तिकड़म में दिन-

रात व्यस्त रहने के कारण, अथवा अपने कूच की निकट आ रही तिथि हर क्षण ध्यान में बनी रहने के कारण हर तरह से उदासीन हो, कुछ बूढ़े (अध्यापक) भी सींग कटाकर जब बछड़ों में शामिल हो जाते हैं तब वे तरुणों से भी बढ़कर गैर जिम्मेदाराना रवैया अख्तिवार कर लेते हैं। वर्तमान 'इनडिसिप्लिन' के लिए अकेले विद्यार्थियों की ही नहीं इस कोटि के तरुणों और बड़ों की भी 'गोशमाली' होनी चाहिए। अस्तु

●

१८ : कुण्डल (ग)

० ० ०

हम अब तक जो कुछ कह आये हैं उसका कोई यह मतलब न निकाल बैठे कि कानों में अन्तर्निहित महत्व का ज्ञान प्लिनी के पूर्व हमारे देश-वासियों को था ही नहीं। सच तो यह है कि हमारे देश में इस गौरव की जानकारी प्लिनी से कितनी ही सदियों पूर्व हो चुकी थी। विवाहादि सोलह संस्कारों में एक कर्ण-वेधन संस्कार भी होता है। यही इस बात का अकाट्य प्रमाण है। यह सही है कि हमारे यहाँ प्लिनी-परम्परा वाली, गवाहों और विद्यार्थियों की, कान-गरमाई का चलन नहीं था, किन्तु यहाँ करोड़ों यज्ञोपवीतधारी दिन-रात में कितने ही बार अपने दाहिने कान पर यज्ञोपवीत का तीन-तीन फंदा डाल कर एक प्रकार से, (अपने ही हाथों होने के कारण) बहुत शिष्ट 'गोशमाली' (कान गरमाई) करते और इस क्रिया से प्राप्त लाभ उठाते थे।

हमारे देश में कान गरमाने यानी 'गोशमाली' करने की अपेक्षा कानों पर वजन या भार रखने को अधिक महत्व दिया जाता था। यही कारण है कि

पुराने समय में पुरुष और स्त्री दोनों ही कानों में कुंडल धारण करते थे। कुंडल पहिनने की प्रथा भारत में प्लिनी के पूर्वजों के पहिले से चली आ रही थी। कानों पर बराबर कुछ न कुछ वजन रखा रहने से धीरता और वीरता उत्पन्न होती है, क्योंकि ऐसी स्थिति में कर्तव्याकर्तव्य के सम्बन्ध में आदमी की स्मृति बराबर चैतन्य रहती है। अध्यापक पूर्ण सिंह ने अपने किसी निबंध के कुंभकर्ण की लम्बी मीठी नींद में एक प्रकार की वीरता के चिह्न का उल्लेख किया है। जो व्यक्ति छः-छः महीनों तक खाने-पीने की सुधि बिसार कर सोता ही रहे, वह भूख और प्यास पर विजय प्राप्त कर लेने वाला महापुरुष वीर तो है ही किन्तु छः महीनों तक खाने-पीने की याद भुला देने वाले व्यक्ति में इतने लम्बे अर्से के बाद सोकर उठते ही सर्वप्रथम उसमें भोजन की प्रबल स्मृति जागृत हो जाने के कारण, मेरी अल्प बुद्धि में, उसके घड़े जैसे कानों में उसके सुराही जैसे कुंडलों का लटकना ही था! बन्दर जैसी भुलक्कड़ और अतिशय चंचल जात में जन्म लेने पर भी हनुमान, महाबीरजी किसके प्रताप से बन सके थे? बेशक कुंडल (और जनेऊ) के ही प्रताप से। हनुमान-चालीसा पढ़कर देखिये, उसमें क्या लिखा है?

कंचन वर्ण विराज सुवेषा। कानन कुंडल कुंचित केशा॥
हाथ बज्र औ' गदा बिराजै। कांधे मूंज जनेऊ छाजै॥

आजकल जहां भी देखिये पढ़ने-लिखने में लड़कियां, लड़कों की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त कर रही हैं। इसका सबसे ताजा उदाहरण प्रयाग-विश्वविद्यालय के एम० ए० (प्रीवियस) तथा बी० ए० (फाइनल) परीक्षाओं की 'मेरिट लिस्ट' है जो क्रमशः ३ जून और ६ जुलाई सन् १९५९ के 'लीडर' में प्रकाशित है। एम० ए० (प्रीवियस) में रेखा मिश्रा सर्वप्रथम, मृदुला सूरी द्वितीय, पतित पावन महापात्र (मिस्टर) तृतीय, राजेन्द्र सिंह वत्स (मिस्टर) चतुर्थ, कमला गुप्ता पंचम और श्यामलेश्वरी वर्धन षष्ट हैं। यानी छः में चार लड़कियां, फर्स्ट और सेकंड और पंजुम और शशम भी। बी० ए० (फाइनल) के लगभग एक हजार विद्यार्थियों में केवल पांच ने प्रथम श्रेणी प्राप्त की है और पांच प्रथम श्रेणी पाने वालों में चार लड़कियां हैं। प्रथम स्थान श्री इन्द्रमणि नामक लड़के को और द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ स्थान क्रमशः लियान प्रतिम मालवीय, चार्मजेल इदत और मंजरी वर्मा नामक लड़कियों को प्राप्त हैं। एक इलाहाबाद में ही नहीं, कमोवेश यही बात सब जगह पाई जा रही है। इसका कारण क्या है? कानों पर ऐरन, टौप, तरौना, कर्णफूल या कुंडल में से किसी एक का भार पड़ा रहने से लड़कियां अपने को चंचलता के अतिरेक से अप्रभावित और कर्तव्याकर्तव्य के प्रति

अपनी धारणा शक्ति अकुंठित रखने में लड़कों की अपेक्षा अधिक सफल होती हैं। किसी समय भारत के आर्य-कुमार भी कानों में कुंडल धारण करते थे, और जनेऊ पहिनते थे। पर कुंडल तो कोई आज पहनता नहीं, जनेऊ भी बहुतेरे छोड़ते जा रहे हैं। खुशी की यह बात जरूर है कि एक तरफ तो कुछ लोग उसे त्यागते जा रहे हैं, किन्तु दूसरी तरफ पिछड़ी जातियों के हमारे भविष्य के आर्य-कुमार, जिनके बाप-दादों ने कभी जनेऊ धारण नहीं किया था, उसे ग्रहण करते जा रहे हैं। हमारा विश्वास है कि यदि ये लोग कुछ दिनों तक धैर्य रखकर जनेऊ द्वारा प्रतिदिन प्राप्त होने वाली कान-गरमाई के लाभ प्राप्त करते रहें, तो कुछ ही दिनों में काफी प्रगति कर जायेंगे। हमारी सरकार इन दिनों पिछड़ी जातियों के लड़कों और लड़कियों को पढ़ाई में छात्र-वृत्ति तथा नौकरी में तरजीह देकर बहुत अच्छा काम कर रही है। निवेदन है कि सरकार अपनी तरफ से इन्हें एक-एक कुंडल देकर उसका पहिनाव अनिवार्य कर दे। तब फिर देखिये कि कैसे देखते-देखते वे कहाँ से कहाँ पहुँच जाते हैं ?

योरोपियों में हम लोगों के यहाँ जैसा कोई कर्ण-वेध संस्कार नहीं है। वहाँ की सभ्यता में कुंडल और जनेऊ के लिये भी कोई स्थान नहीं है। यही वजह है कि योरोप में आपको कोई कर्ण-विद्ध महिला नहीं मिलेगी। किन्तु अपने देश में शायद ही इनी-गिनी कोई एकदम योरोपीय धर्म और संस्कृति में पलीं स्त्रियाँ दिखाई दें जिनके कान (और नाक भी) अनछिदे रहते हों। कुछ दिन हुए एक ऐसा नज्जारा देखने को मिला था जिससे एकदम विश्वास हो गया था कि कानों पर हर समय एक संयम और मर्यादा का भार ग्रहण किये रहने ही के कारण भारतीय ललनाओं में इतना ऊँचा पातिव्रत अभी तक अखंड बना है। यही दृश्य देखकर उस दिन एक अजीब ख्याल मन में यह भी उठा था कि अगर लक्ष्मण जी ने अपने कानों में कुंडल न धारण कर रखा होता तो उर्मिला की सुधि बिसार शूर्पणखा को उसी तरह ग्रहण कर लिया होता, जैसे कितने ही कुंडल विहीन विवाहित भारतीय 'आर्यपुत्र' विलायत पहुँचते ही अपनी विवाहिता को भूल जाते हैं। सच तो यह है कि इस निबन्ध के लिखने की प्रेरणा भी मुझे उसी घटना ने दी थी जिसका संक्षिप्त वर्णन यह है :—

कुछ वर्ष हुए हमारे प्रदेश में एक जगह ट्रैक्टरों द्वारा एक विशाल परती भूमिखंड की जुताई का एक बड़ा भारी-भरकम आयोजन हुआ था। पास में ही एक बाग था और उस बाग में शामियाना खिंचा था। सामने एक मंच बनाया गया था, जिस पर दो राजसी कुर्सियाँ सुसज्जित थीं। उस मंच के ऊपर जरी का काम

किया हुआ मखमली चंदोवा लहरा रहा था। दूर मैदान में आधे दर्जन 'जुते हुए' ट्रैक्टर धूप में झलझला रहे थे। बाग और मैदान में अपार भीड़ जुटी थी। सर्व-प्रथम भाषण होना था और फिर बगीचे वाले उसी मंच पर पूजा। फिर ट्रैक्टरों से उस भूखंड की जुताई का एक प्रदर्शन और अन्त में उस मैदान से एक मील दूर नगर में उस भूमि-पति महोदय के महल में निमंत्रण-पत्र पाये हुए सज्जनों और देवियों का लंच !

मंच की ओर से एक क्लीन-शेव्ड यानी दाढ़ी-मूँछ मूँड़े हुए चंदोले (गंजे सिर वाले) तरुण अपने साथ नख-सिख तक वर्तमान फेशन में अनुरंजिता एक अत्यन्त रूपवती आधुनिका को लिये हुए शामियाने की सोफोंवाली अगली पांत की तरफ आते हुए हमें दिखाई पड़े। पास आकर वे तरुण महाशय अपना हैट सिर से उतार हाथ में ले एक साहब के सामने बड़े अदब से झुककर बोले 'दिस इज माइ वाइफ सर !' और फिर अपनी वाइफ (पत्नी) की तरफ मुड़कर—'यू बेटर टेक योर सीट देयर !' कहते हुए वहाँ से खिसक गये। उनकी धर्म-पत्नी जी बेझिझक साहब के पार्श्व में जा विराजीं। फिर भाषण हुए, पूजा हुई, जुताई हुई और लोग नगर की तरफ, कोई मोटर से, कोई साइकिल से, कोई ताँगा से, कोई लढ़िया से और शेष सब लोग पैदल वहां से जाने लगे। मैं भी एक महाशय के साथ एक ट्रैक्टर पर पहुँच गया था और वहाँ से बाग तक आने में कुछ पिछड़ गया। दूर से देखा कि वे ही साहब एक शानदार मोटर कार के पास खड़े देवी जी से बातें कर रहे थे, किन्तु देवी जी का चित्त कुछ स्थिर नहीं जान पड़ता था, क्योंकि वह रह-रह कर भीड़ की तरफ देखती रहती थीं। शायद साहब उन्हें अपनी मोटर गाड़ी पर बैठा कर ले जाने का प्रस्ताव कर रहे थे, जो शायद उन्हें स्वीकार नहीं हो रहा था। घबराई हुई हिरनी जैसी उनकी आँखें शायद उस भीड़ में अपने पति को ढूंढ़ रही थीं। किन्तु वे कुंडल और जनेऊ रहित कलियुग राम न जाने किस माया-मृग के शिकार में व्यस्त थे ! जान पड़ा कि वह देवी जी अन्त में उन्हें ढूंढ़ निकालने में कामयाब हुईं, क्योंकि हमने देखा कि जैसे उनसे मिलाने के लिये साहब का दाहिना हाथ जरा आगे बढ़ा उस देवी ने दोनों हाथ जोड़ साहब को नमस्कार किया और एकाएक उधर से मुँह मोड़ पैदल जा रही भीड़ की तरफ तेजी से कदम बढ़ाये। वह हमारे बायें से तेजी से निकली चली जा रही थीं। उस समय जल्दी-जल्दी चलने से उस महिला के कानों के कुंडल खूब लहलहा रहे थे। उसके मुखमंडल पर रोष और लावण्य की लालिमा सिंदूर को लजा रही थी। बचपन में सुने हुए एक गीत की निम्न कड़ी अचानक स्मरण हो आयी :—

'कोटिक चन्द्र दिवाकर राजैं तव कुंडल की छइयां ।
मइया तव कुंडल की छइयां ।।'

रावण के अशोक वन की वन्दिनी सीता ने रावण के प्रलोभनों के जवाब में उस राक्षसी से कहा था :—

'चरणेनापि सव्येन स्पृश्येयं न निशाचरम्'
अर्थात् मैं रावण को अपने बायें पैर से भी नहीं छू सकती ।

उस बाग की हमारी इस आधुनिक सीता को भी अपने पति के इस धनी, मित्र या 'चीफ' को अपने दाहिने हाथ से स्पर्श करना मंजूर नहीं थी । कुछ ही लमहों में वह गंजी चांद वाले तरुण पसीने में लथपथ अपनी पत्नी के पास भागे आ रहे थे । पास पहुंचकर हांफते-हांफते बोले 'डार्लिंग ! यू आर होपलेस ! तुम्हें कितना भी समझाऊं तुम इम्प्रूव नहीं कर सकती ।' फिर जैसे किसी गूढ़ अर्थ में बोले 'मैं तो समझता था कि तुम कार से वहां कब की पहुंच गई होगी । मैं भी चड्ढा साहब की गाड़ी में बैठ चुका था, पर तुम्हें इस तरह भागती देख बहाना बनाकर उतर आना पड़ा । अब चलो एक मील पैदल !'

उस क्षण तो श्रीमान् का यह हाल था । घर पहुंचने पर बेचारी की न जाने कौन सी अग्नि-परीक्षा ली गई होगी ।

१८ : गणेश और, गोबरगणेश ! (घ)

० ० ०

समझदारों का कहना है कि प्लिनी महोदय के उल्लेख के ही कारण भूलने-भटकने वाले गवाहों तथा 'इनडिसिप्लिन' (अनुशासनहीनता) और हुल्लड़बाजी करनेवाले विद्यार्थियों के लिए 'गोशमाली' यानी 'कान गरमाई' यूरोप में, विशेषतः फ्रांस, इटली और जर्मनी में, कानूनन जायज अतः अनिवार्य मानी जाती रही है। परन्तु इस सम्बन्ध में मेरा कहना यह है कि यूरोप में भले ही लड़कों की ही नहीं बूढ़ों (गवाहों) तक की गोशमाली अनिवार्य रही हो, यूरोप की ही तरह हमारे यहाँ भी अतीत में गोशमाली कभी आवश्यक रही होगी यह स्वीकारने के लिए मैं हरगिज तैयार नहीं हूँ। इस मामले में मैं 'प्लेन-वादी' चाहे भरपूर होऊं, 'प्लिनीवादी' तनिक भी नहीं हूँ। (अंग्रेजी में प्लेन शब्द के तीन अर्थ होते हैं—१ मैदान, २ स्पष्ट, ३ वायुयान। लेखक उत्तर प्रदेश में जन्म लेने के कारण अपने को मैदानवादी दो-टूक बात कह डालने की बुरी लत पड़ जाने के कारण

स्पष्टवादी, और कल्पना के यान पर चढ़कर गगन-विहार का अभ्यासी होने के कारण वायुयानवादी मानने से पूर्णरूपेण 'प्लेनवादी' है) क्योंकि हमारे यहाँ तो यों ही इतनी अधिक गरमी पड़ती है कि बिना उमेठे ही लोगों के कान हर समय गरमागरम रहते हैं। हाँ, यूरोप में ठंड अधिक पड़ती है, अतः वहाँ ठंड कान की लर से घुस कर लोगों के दिल और दिमाग को हर क्षण बरफीला किये रहती है, अतः उनमें सरगर्मी पैदा करने के लिए अवश्य गोशमाली अनिवार्य होगी।

मैं यह मानता हूँ कि हमारे पाठकों में से किन्हीं ने अपने देश में भी कभी-कभी एक प्रकार की गोशमाली देखी हो। अखाड़े में लड़ने के लिए लंगोटा, जाँघिया काछकर उतरे हुए किसी पहलवान को कुश्ती आरम्भ करने के पूर्व, मेंड़ पर स्थापित अखाड़े के देवता के सामने, अपने कानों की लर दबा-दबाकर फुसफुसाते हुए शायद आपने देखा हो। अथवा आल्हा, बिरहा, जोगीड़ा, कजली या कव्वाली का कोई गायक गाना शुरू करने के पहले अपने कानों की लर धीरे-धीरे मलता हुआ मन ही मन अपने गुरु की बन्दना करता हुआ देखा गया हो। इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन केवल इतना है कि इस प्रकार की कानगरमाई भारतीय नहीं। सिर झुकाकर नाक रगड़ना, अथवा कान मल-मलकर उस्ताद के नाम पर सिर झुकाना रूमी या शामी इबादत की अदा भले ही हो, वन्दना की भारतीय विधि यह कदापि नहीं है।

मैं यह उल्लेख कर चुका हूँ कि हमारे देश में कान गरमाने यानी गोशमाली करने की अपेक्षा कान पर वजन या भार रखने को अधिक महत्त्व दिया जाता था। यही कारण था कि पुराने समय में जो जितने ही पदों पर आसीन होते वे उतने ही बड़े कुण्डल धारण करते थे, क्योंकि जो जितना ही बड़ा होता है उतने ही बड़े उसके कान भी होते हैं। मैं यह भी पहले कह चुका हूँ कि कानों पर इस तरह बराबर वजन पड़ा रहने से हरदम कर्त्तव्याकर्त्तव्य की सुधि बनी रहने के कारण पुराने जमाने की नर-नारियों में अनुपम धीरता, वीरता, सहनशीलता और धर्मनिष्ठा बनी रहती थी। परन्तु इन दिनों जब ऐरन, कुण्डल आदि का परित्याग आर्य-ललनाएँ ही करने लगी हैं तब आर्यकुमारों के कुण्डल-त्याग की शिकायत क्यों? मेरा अपना विश्वास है कि आज चारों ओर जो हमारे जीवन में हल्कापन छाया हुआ है उसका खास कारण इस प्रकार हमारे कानों का हल्का बन जाना ही है। मैं यह कह चुका हूँ कि अगर लक्ष्मणजी ने अपने कानों में कुंडल न धारण कर रखा होता तो उर्मिला को भूल अरण्य में चन्द्रनखा (बाद में शूर्पनखा) को उसी तरह लपककर ग्रहण कर लिया होता जैसे कितने ही कुंडल और जनेऊ-विहीन

'आर्य-पुत्र' विलायत पहुँचते ही अपनी पत्नी को भूल जाते हैं। और कुंडल-विहीना स्त्रियां कैसी हो सकती हैं इस बात का सब से बड़ा और अमर उदाहरण शूर्पणखा है। वह चन्द्रनखा कुंडल-विहीना होने के कारण जब राम और लक्ष्मण से हल्की-हल्की बातें करने लगी तो राम की आज्ञा से आर्यललना के गुणोंवाली उसे बनाने के लिए लक्ष्मण ने उसके कान छेदकर उसमें कुंडल पहनाने का प्रयास किया। उसके लिए 'डबल-चेक' या 'डबल-कंट्रोल' जरूरी होने के कारण उसकी नाक पर भी वजन रखना जरूरी था, अतः लक्ष्मण ने उसकी नाक भी छेद दी[1]। फिर जब वे उसे कुंडल और नथ (या नथुनी) पहनाने लगे तब उसने बेहद नोच-खसोट शुरू की, जिससे नख-कार्य में प्रखरता दिखाने के कारण राम लक्ष्मण ने (विशेषतः लक्ष्मण ने) शूर्पणखा नाम दिया और नाक-कान फट जाने से वह सदा के लिए शेष संसार की निगाहों में नकटी और कर्नछिद्दी होकर रह गयी। चन्द्र-नखा[2] का शूर्पणखा हो जाना साधारण अधःपतन नहीं माना जा सकता।

मेरी इस हल्की-सी गोशमाली से उनके कान कुछ तो गरम हों जिन्होंने अपने कान एकदम बिना वजन का रखकर भीषण सामाजिक कुहराम बरपा कर रखा है। आज बड़े लोगों के लिए कानों पर वजन रखना बेहद जरूरी हो रहा है क्योंकि बड़े लोगों के प्रायः कान बड़े ही होते हैं। उनके कानों का बड़ापन एक तरफ तो उन 'कर्णधारों' के विशाल हृदय और उनकी दीर्घायु की सूचना देते हैं; किन्तु दूसरी ओर इन कानों का बड़ापन चुगलखोरों और चाटुकारों का सहज आश्रयदाता बन जाता है। इसलिए जरूरी है कि जितना ही बड़ा कान हो, उस पर उतना ही बड़ा वजन रखा जाय। इसलिए तो बड़े योगियों के कानों में मुद्रा और बड़े-बड़े जननायकों या राजाओं के कानों में विशाल कुण्डल लटका करते थे।

देवताओं में भी जहां तक अपनी जानकारी है गणेश को छोड़ शेष सभी कुण्डलधारी हैं। गणेश के कानों में कुण्डल पहिनाना भी हो तो कान के किस भाग में ? शायद इसी बात का निर्णय न हो सकने के कारण वे कुण्डल रहित रह

---

[1] जिस औरत की नाक अनछिदी हो हिन्दू समाज में (विशेषतः उत्तर-प्रदेश में) उसकी ससुराल में कोई उसके हाथ का छुआ पानी नहीं पीता।

[2] जैन पद्म पुराण में उसका नाम चन्द्रनखा है और वह खरदूषण (एक ही व्यक्ति) की पत्नी है। उसका पुत्र शम्बूक है जिसे राम ने मारा है। चन्द्र-नखा इस कारण राम पर आक्रमण करने आयी थी।

गये होंगे। फिर उनके इतने बड़े-बड़े गजकर्णों में पचीस-पचास तोले वजन के कुण्डल तो ऊँट के मुँह में जीरा ही होते। सो एक-एक पंसेरी के नहीं तो कम-से-कम एक-एक सेर वजन के तो होने ही चाहिये थे। पर गणेश के कानों में लर (लूर नहीं !)[1] का तो कहीं पता ठिकाना ही नहीं है। अतः उनके कानों में सही वजन के कुण्डल कान फाड़कर कहीं उन्हें कनफटा बाबा न बना डालें, हो सकता है इसी डर से उनके माता-पिता ने उन्हें कुण्डल पहनाने के लिए उनका कर्ण-वेध न किया होगा। यह भी हो सकता है कि उन्हें कुण्डल-विहीन रखने का निर्णय करते समय उनके उस बेचारे तनिक से वाहन का भी ख्याल रहा हो। उसके यों ही इतना सारा फालतू बोझ के ऊपर तनिक से सेर दो सेर वजन और बढ़ा देना उचित न समझा गया हो। कारण जो भी रहा हो, पर काम यह बुरा हुआ, क्योंकि उम्र पाते ही गजानन महाराज अपने लम्बे-चौड़े कानों के प्रभाव से शीघ्र ही गणपति हो गये, अर्थात् उनके इर्द-गिर्द अल-फतुओं की एक खासी बड़ी जमात जुट गयी। फिर जिस किसी 'गणपति' विनायक (या जननायक) के हाथी जैसे बड़े-बड़े कान किसी उपयुक्त वजन (यानी संयम और नियंत्रण रूपी वजनी कुण्डल) से रहित चौबीसों घण्टे झारखण्डेश्वर के पट्ट की तरह खुले रहते हों वह विघ्नेश्वर अर्थात् विघ्नों का ईश्वर यानी विघ्न-विधायक हुए बिना रह ही कैसे सकता है ? सो कुछ ही दिनों में जब गणेशजी गजानन से गणपति और गणपति से विघ्नेश्वर या विघ्न-विधायक बनकर घोर आपत्तियों, बाधाओं और तरह-तरह की अड़चनों की मंजूषा हो गये, और जिस जगह जब भी, जितना चाहा मंजूषा का मुँह खोल उतना विघ्न अपने गणों द्वारा पलक मारते ही बाँटने लगे, तब देवताओं के कान खड़े हुए ! परन्तु अब अफसोस करने के सिवा वे कर ही क्या सकते थे ? तब बचपन में नहीं हुआ तो अब गणेश का कनछेदन कर उनके कानों में कुण्डल पहिनाना किसके बूते की बात थी ? परिणाम स्वरूप जब गजानन ने अपने गणों को लेकर दशों-दिशाओं में कुहराम मचाना आरम्भ किया और चारों ओर से त्राहि-त्राहि होने लगी तब देवताओं ने एकत्र हो मंत्रणा की, गणेश का आवाहन हुआ, उनकी पूजा की गयी। गणेश जी मान गये। समझौता हो गया। अब हर जगह, हर काम में सबसे अव्वल उनकी ही पूजा हुआ करेगी। उनके इस आधिपत्य की मुहरबन्द रजिस्ट्री के तौर पर देवताओं ने यहाँ तक स्वीकारा और विज्ञापित करना आरम्भ किया कि उनके माता-पिता के विवाह के समय भी प्रथम पूजा गणेशजी की ही हुई थी।

---

[1] मगही में लूर शऊर का पर्यायवाची है बघेलखंडी मे इसी अर्थ में सहूर शब्द प्रयुक्त होता है।

गणेशजी बात के धनी थे। उन्होंने समझौते का आदर किया। ऐसा आदर किया कि अपनी पूजा की प्राथमिकता सर्वमान्य होते ही उन्होंने अपनी और अपने गणों की जो गोशमाली आरम्भ की तो सब तत्ता-थम्बा हो गया और वे शीघ्र ही विघ्नेश्वर की जगह विघ्नहर और विघ्नविनाशक माने जाने लगे। और आज उन्हें आप जब भी जहां-कहीं बुलाइये बेचारे ढुढुहँढ़ अपने वाहन पर सवार चले आते हैं। आप उनके चूहे के लिए दस-पांच चावल के दाने और दूब के दो-चार टुकड़े तथा उनके लिए एकाध टोंकनी कैथे की उनके आगे रखकर, 'गजाननं भूत-गणादि सेवितं, कपित्थ जम्बू फल चारु भक्षणम्' आदि मंत्र से उनकी पूजा कर दीजिये, बस इतने में ही वे 'मुंह भी कूंई और पेट भी कूंई', अर्थात् मुंह से भी और पेट से कुएं जैसे विशाल, पूर्ण सन्तुष्ट हो आपकी समस्त बाधाओं को समेटे अपने थाने-पवाने (स्थान के प्रमाण में) लग जाते हैं।

खैर, देवताओं को तो केवल एक ही गणेश से पाला पड़ा था, जो गणपति और विघ्नेश्वर होने पर भी बड़े सरल और भद्र थे। यही कारण था कि देवगण बड़ी आसानी से अपने युग की समस्याओं को हल कर ले गये। किन्तु हम भारत भूमि निवासी जिनको कभी स्वर्ग के देवता अपने से अधिक सौभाग्यशाली मानते थे, किन्तु आज जिनका चारित्रिक बल अत्यन्त न्यून हो रहा है अपनी समस्याएं किस तरह निपटायें। हमें आज एक ही गणेश से नहीं निपटना है। भारत जब-से गणराज्य हुआ है, हमारे यहां डगर-डगर, नगर-नगर, गांव-गांव, गली-गली सैकड़ों नहीं हजारों गणेश विघ्नेश्वर उतरा आये हैं। देवताओं के गणेश में कोई धोका-धड़ी नहीं थी, क्योंकि एक तो गजानन होने से उन्हें पहचानने में अटक नहीं लगती थी, दूसरे 'मुंह भी कुंई पेट भी कुंई', अर्थात् वे मुंह और पेट दोनों से समान थे। किन्तु हमारे आपके वोट-विनिर्मित इन आधुनिक और नकली गणेशों में कोई अश्वानन है, तो कोई उष्ट्रानन, कोई वृकानन है तो कोई अजानन, पर गजानन एक भी नहीं दिखता। क्योंकि ये सब कान तो बहुत बड़ा-बड़ा रखने से गजकर्ण होते हैं, परन्तु 'मुंह सूई और पेट कूंई' होने से गजानन नहीं बन पाते। मुंह में कुछ और पेट में कुछ और रखने की सिफत के कारण इनके साथ काफी पोल-पट्टी रहती है। उदाहरणार्थं इनके नन्हें से मधुर मुंह को देखकर हम आप तो यही समझते हैं कि गणेशजी से भी सस्ते निपटाये जा सकेंगे यानी थोड़े में ही सन्तुष्ट हो जायेंगे। परन्तु पेट से कुंई अर्थात् पेट कुइयां (कुआं) होने के कारण हजम करने में वे काफी गहरेबाज होते हैं।

●

२० : आत्मा की हुमास

० ० ०

अंग्रेजी का 'ह्यू मर' शब्द और हमारा हास्य, हमारे मत में आत्मा के अ-लौकिक हुमास का ही नाम है। परिस्थितियों की विषमता या विद्रूपता के दबाव से गिरे हुए मन में, जब प्रतिबन्धों की उपेक्षा करके, अपमान और अहंकार को परे फेंक; उपहासपूर्ण और तिरस्कारजनित परिस्थितियां हों तो उनको भी सहर्ष आलिंगन करने के लिए एक असामान्य और अलौकिक उठान हुमस पड़ती है, तब ब्रह्मानन्द की अनुभूति देने वाले अनिवर्चनीय हास्य की अवतारणा होती है। 'ह्यू मर' या हास्य-महाराज के महल में एक से एक बढ़कर कितने ही सुसज्जित कक्ष आपको मिलेंगे। उदाहरणार्थ परिहास (सटायर), व्यंग्य (आइरनी), हाजिर जवाबी (रेपटइ), विनोद (विट), कूट या मजाक (जोक), मसखरी (जेस्ट), विपर्यय (पैरोडी), सूक्ति या सुभाषित (एपिग्राम या विजेक्रैक), भंड़ौआ (बरलेस्क), पंड़ोकई

या हजलिया (कैरीकेचर) इत्यादि-इत्यादि । आज हम हास्य महाराज के इस भव्य राजप्रासाद में 'प्रत्युत्पन्न-मति' या 'हाजिर जवाबी' रूपी एक कक्ष की थोड़ी सैर करना चाहते हैं ।

नीतिकारों ने लायक यानी बराबर वालों ही से व्याह, वैर, और प्रीति करना उचित कहा है । हमारी समझ में हास-परिहास भी बराबरी वाले के साथ करना चाहिये, नहीं तो कुछ उसी तरह की अटपटी घटना घट जा सकती है जैसी पिछले सप्ताह बाबू हरगूलालजी के साथ घटित हो गयी । बाबू साहब किसी से बातचीत करते समय यह कह पड़े कि—'भाई ! बुरा न मानिये तो एक बात कह दूँ ।' इनका इतना कहना था कि वह आदमी एकदम निधड़क कह उठा—'बाबूजी ! बेशक कह डालिए, मैं हरगिज बुरा न मानूंगा; क्योंकि मैं तो बाबा तुलसीदासजी का भक्त हूँ, जिनका यही कहना है कि—

तुलसी बुरा न मानिए, जो गंवार कहि जाय ।
जैसे घर को नरदबा[1], भलो-बुरो बहि जाय ।।

यह सुनते ही बाबू साहब को जैसे काठ मार गया । मुंह लटकाये हमारे यहाँ आये, जैसे मुझे ही उलाहना देना हो । एक दिन हमारे यहां उस आदमी को उन्होंने देख जो लिया था । मैंने उन्हें तरह-तरह से समझाया ; परन्तु बाबू साहब को तनिक भी सान्त्वना न मिल पायी । वास्तव में उस अपरिचित के ऊपर धौंस जमाने के लिए ही इन्होंने उसके साथ इस तरह की बेतमीजी की थी ; पर उसने जब इनकी आना-पाई बरोबर बेतमीजी का बदला सेर का सवा मन चुकाते हुए इन पर जो यह तीर फेंका वह इनके कलेजे में धंस चुका था और उसे निकाल फेंकने के लिये अपनी आत्मा में हुमास का अभाव होने से बिचारे हरगूलालजी तड़प रहे थे । सच है, इन्सान को हास-परिहास में धाक, धुआं, धांधली या धौंस का सहारा हरगिज नहीं लेना चाहिए । इस बौद्धिक और आध्यात्मिक दिल-दरियाव साम्यवाद में मनुष्य की मनुष्य के प्रति होनेवाली आस्था और सद्भावना एवं समानता का जिस व्यक्ति में जितना ही अधिक पूर्ण भण्डार होता है वह हास महाराज के 'साम्यवादी-सामराज' (या रामराज !) में उतना ही ऊंचा पीढ़ा प्राप्त करता है । मैं चाहता तो बाबू साहब से पूछ सकता था कि किसी आदमी के सामने उसके सम्बन्ध में कोई बुरी बात कहने के लिए उसी से अनुमति माँगने आप

[1] नरदबा=नाबदन या परनाला ।

गये ही क्यों थे ? आपकी बेतमीजी और शिष्टाचार-विहीनता का उसने जब मुँह-तोड़ जवाब दे दिया तो आप अब तिलमिलाते क्यों हैं ? परन्तु बाबू हरगूलालजी में 'ह्यूमर' की नितान्त कमी है। अतः मैंने जब उनसे यह कहा कि वह सचमुच एक बड़ा बदतमोज आदमी है और अगर अब फिर कभी हमारे यहाँ आया तो उसकी अच्छी खबर ली जायगी तब जाकर बाबू साहब का चित्त थोड़ा स्थिर हुआ।

इस घटना का मनन करके हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि—(१) किसी अपरिचित व्यक्ति के साथ बातचीत करते समय जहाँ तक सम्भव हो, हमें अधिक कहने की अपेक्षा, अधिक सुनने की इच्छा रखनी चाहिए और चाहे कोई परिचित हो या अपरिचित हो, उस पर धौंस जमाने की कभी भी कोशिश नहीं करनी चाहिए। (२) बात उठानेवाला अर्थात् प्रश्न करनेवाला यदि कुछ आवेश (रोब) में हुआ, या उपालम्भ (उलाहना) देने अथवा व्यंग्य कसने की उसकी नीयत रही तो हाजिर-जवाबी के सौदे में घाटा उसी को सहना पड़ेगा। एक सुन्दर उदाहरण लीजिए—

एक प्रसिद्ध लेखक कुछ दिनों से एक पुस्तक की रचना में अत्यन्त व्यस्त होने के कारण अपनी पत्नी की उतनी नाज़बरदारी नहीं कर पा रहे थे, जितनी वे बराबर करते रहते थे। एक दिन की बात है कि भोजन तैयार करके उनकी धर्मपत्नी बेचारी उन्हें बार-बार बुलवा रही थीं ; किन्तु एक वे थे कि बिचारी से न जाने कब से प्रतीक्षा करवा रहे थे और लिखना बन्द करके उठने का नाम ही नहीं ले रहे थे। आखिर जब बहुत देर करके आये तो उनकी पत्नी से न रहा गया। उसने झुँझलाकर कहा—'पत्नी न होकर अगर मैं कोई पुस्तक हुई होती तो भी अच्छा था !'

'लेकिन प्रिये ! अगर छपने-छपाने में कोई गलती हो जाने से तुम पुस्तक न बनकर कोई डायरी या कलेन्डर बन जातीं तब कैसा रहता ? तब तो साल भर बाद ही तुम बदल दी जातीं !' लेखक महोदय ने तुरन्त जवाब दिया। कहते हैं कि यह 'सेर का सवा पंसेरिया' जवाब देकर उन मस्तमौला साहित्यिक महोदय ने मुँह बनाकर बड़े अदब के साथ यह कहते हुए कि : 'श्रीमती जी ! क्षमा कर दीजिए, कान पकड़ता हूँ, अब भविष्य में कभी ऐसी गलती न करूंगा,' अपने दोनों हाथ कान पकड़ने के लिए जब अपनी पत्नी की ओर बढ़ाये तो उस समय हास्य की एक ऐसी अलौकिक रस-धारा फूट पड़ी, जिसमें वे पति-पत्नी तो देर तक शराबोर

हो कहकहे लगाते ही रहे, और दूसरे कोई भी आस-पास रहे होते तो उसमें अभिषिक्त होकर अपना जीवन स्निग्ध कर सकते थे !

दूसरा उदाहरण हमारे 'एम० पी० साहब' का है। हाथी जैसे ऊँचे डील-डौल वाले एम० पी० साहब के अपने को 'बुलडौग' बताते ही उनके साथियों में से शंकरजी ने जब यह कहा कि 'क्या खूब एम० पी० साहब ! आपने 'बुलडौग' खूब ही कहा ! 'बुल' मानी सांड़ और 'डौग' मानी श्वान ! सांड़ भी और श्वान भी। यही न ? यानी वाहन के वाहन, और पहरा के पहरा ! क्या खूब, एक ही में दोनों !' उस समय हमारे अभिनव 'रसखान' एम० पी० साहब ने जो जवाब दिया था, अब तक याद है और जीवन पर्यन्त याद रहेगा। उन्होंने कहा था— 'भाई जान ! एक शंकर का ही नहीं, मैं तो आप सभी का वाहन हूँ और पहरा भी सभी का बजाता हूँ, तभी तो बुलडौग हूँ। हाथी तो मैं सिर्फ दुनिया की निगाह में हूँ। यह तो भोले बाबा की दया है, जो भरम बना हुआ है और मेरे जैसे पोले और खोखले आदमी की भी जिन्दगी आप भाइयों के बीच बाइज्जत कटी जा रही है !' इस बात को सुनकर हम सब की आंखें छलछला उठी थीं और आज एम० पी० साहब के इस दुनिया से उठ जाने के बाद उनकी दो साल पहिले की यह बात याद करके हम अपने आंसुओं को रोक नहीं पाते हैं।

वास्तव में हास-परिहास के क्षणों में चार जनों के बीच उत्तर-प्रत्युत्तर का जो विनोदपूर्ण कौशल प्रदर्शित होता है, उसमें सबसे अधिक श्रेय किसे मिला, इसका निर्णय सभा-विसर्जन के बाद ही हो पाता है। सबसे अव्वल दनादन अपने विनोद की गोलाबारी कर डालने वालों की अपेक्षा, दूसरों को बोलने का प्रथम अवसर देने वाले अत्यन्त चुभती हुई, किन्तु अभिमान-रहित सूक्तियों के वक्ता ही प्रायः अन्तिम विजय प्राप्त करते हैं। जिसकी बात सुनने वालों के हृदयों में इतनी गहरी उतर जाय कि महीनों क्या सालों, और सालों क्या जीवन भर याद रहे, वही विनोद-सभा का सच्चा नेता होता है। इस प्रकार की प्राप्ति में वाक्-पटुता और बुद्धि की विलक्षणता की अपेक्षा हृदय की उदात्तता और निरभिमानता ही अधिक सहायक होती है। इसी कारण हमने 'ह्यूमर' या हास्य को आत्मा की एक अलौकिक हुमास माना है।

* *

जहां प्रश्न करने वाले और उत्तर देने वाले के बीच बुद्धि, सहृदयता, अनुभव तथा हंसने-हंसाने की तबीअतदारी की समान-स्तरता होती है वहां तो बात-बात पर फूल झड़ते हैं, और हास्य तथा विनोद की ऐसी भागीरथी प्रवाहित होती है,

जिसमें अवगाहन कर पापिष्ट से पापिष्ट आत्मा भी अपना जन्म-जन्मान्तर का कलुष धो डालती है। इस प्रकार की गौरी-शंकरी हाजिर जवाबी महात्मा गांधीजी प्रायः प्रस्तुत कर दिया करते थे। ऐसे तो उनके दिए हुए सैकड़ों उत्तर-प्रत्युत्तर एक से एक बढ़कर हैं; किन्तु जब वे गोल-मेज कान्फरेंस के लिए इंगलैण्ड पधारे थे उस समय की उनकी एक हाजिर-जवाबी अत्यन्त निराली और उत्कृष्ट मानी गयी है। महात्माजी की घुटनों के ऊपर तक की धोती में अंग्रेजों के 'प्लस फोर्स' का कुछ आभास पाकर सर सेमुअल होअर को, कहते हैं कुछ मजाक सूझा और उन्होंने बड़ी विनोदपूर्ण मुद्रा में महात्माजी से कहा—'सो यू औलसो लव प्लस फोर्स !' (अच्छा ! तो 'प्लस फोर्स' आपको भी प्रिय है ?) छूटते ही महात्माजी ने उत्तर दिया—'नो ! आई लव माइनस फोर्स। ओनली यू लव प्लस फोर्स' ! (अर्थात्—जी नहीं ! मुझे तो 'माइनस फोर्स' (अहिंसा) प्रिय है। 'प्लस फोर्स' बस आप लोगों को प्रिय है !) 'प्लस फोर्स' अंग्रेजों का एक प्रकार का पतलून होता है, जिसके पायँचे घुटनों के ऊपर बटनबन्द होते हैं। साथ ही अंग्रेजी के 'प्लस' शब्द का अर्थ जोड़ना या योग है, और 'माइनस' का अर्थ है घटाना या ऋण। 'फोर्स' शब्द का अर्थ ताकत (हिंसा या पशु बल भी) होता है। इस प्रकार 'प्लस फोर्स' को श्लेषार्थ देकर महात्माजी ने यह घोषित किया कि हिंसा का प्रयोग अंग्रेजों को प्रिय है तो गांधी उपासक है अहिंसा का ! वास्तव में वह 'सर-सेमुअली' लहजा एक बड़ा ही सशक्त और जहरीला तीर था; किन्तु बापू की अलौकिक सतत चैतन्य सत्यवती प्रतिभा के चरणों में वह मोम होकर गिर पड़ा।

पण्डित रामनरेश त्रिपाठी भाषा के परम आत्मीय, हास्य और विनोद के मर्मज्ञ कलाकार तथा वाक्पटुता के आचार्य हैं। जिन्हें उनके संग-साथ का किंचित सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा, वे हमारे इस बखान से असहमत न होंगे। एक बार अवध के एक राजा साहब के साथ श्रद्धेय त्रिपाठीजी की ठन गयी थी। अंग्रेज कमिश्नर (डिप्टी कमिश्नर नहीं) के साथ त्रिपाठीजी की मुलाकात होने पर साहेब ने जब उनसे कहा कि—'राजा साहब कह रहे थे कि 'त्रिपाठी इज अ रोग !' अर्थात् 'त्रिपाठी एक रोग (अंग्रेजी शब्द Rogue=दुष्ट आदमी) हैं। उस समय त्रिपाठीजी ने उसे तत्काल अत्यन्त कुशलतापूर्ण जो मीठा जवाब दिया था वह चिरस्मरणीय बन गया है। त्रिपाठी जी ने कहा था—'श्रीमान राजा साहब तो मुझसे अप्रसन्न रहते ही हैं; अतः वे मुझे कुछ अधिक दे ही क्या सकते थे ? किन्तु सरकार ! आपकी तो मुझपर कुछ खास मिहरबानी रहती है; इसलिए

आपसे मैं कुछ अधिक आशा करता था। आप राजा साहब के रोग में कुछ जोड़कर मुझे अपनी भाषा में 'आर्च-रोग' और मेरी भाषा में 'राज रोग'[1] कह सकते थे, क्योंकि श्रीमान ! मैं 'रोग' नहीं, 'राज-रोग' हूँ। रोगों का राजा (राजयक्ष्मादि असाध्य रोग) जो लग गया तो बड़े से बड़े राजा और महान् से महान् साम्राज्य को नष्ट करके ही छोड़ता है। अतः आप मेरी ओर से भी राजा साहेब से कृपा करके इतना कह दीजिएगा कि मै उनका अंग्रेजी वाला रोग नहीं हिन्दी वाला राज-रोग बनकर अब उन्हें लग गया हूँ और उन्हें मिटाकर ही उनसे छूटूँगा।'

सच तो यह है कि जिस व्यक्ति में आत्मा की हुमास होती है, शरीर से दुर्बल और धन से रंक होने पर भी उसमें असीम बल, मर्दानगी और दरियादिली लहरें मारती रहती है। जगत के अन्धकार पूर्ण भयानक अरण्य में उस महापुरुष की यह आत्मिक हुमास ही ज्योति की एक अखंड किरण है; मानव जीवन के संचित प्रारब्ध से जायमान विषाद के उसके महार्णव में पार उतार सकने वाला यही एक लघु पोत है। क्रूर से क्रूर सम्राटों की बक्र-दृष्टियां और विकट से विकट षड्यंत्रकारियों की चालबाजियां भी उसके माथे पर शिकन पैदा नहीं कर पातीं, और सच तो यह है कि बड़ा से बड़ा चलता-पुर्जा भी उसे नीचा दिखाने में कामयाब नहीं होता; बल्कि खुद मुंह की खाता और सदा के लिए दुनिया की निगाहों में गिर जाता है।

बीरबल को नीचा दिखाने में कई बार कोशिश करके भी जब मियां खुशरो और उसके वीरबल द्वेषी दूसरे साथी कामयाब नहीं हुए तो उन लोगों ने बादशाह को उकसाया और शाहंशाह की अनुमति से भरे दरबार में खुसरो ने अकस्मात् वीरबल से कहा कि वे बतलायें कि संसार का केन्द्र-बिन्दु कहाँ है और आकाश में कितने नक्षत्र हैं ? ऐसा षड्यंत्र-पूर्ण कठोर प्रश्न सुनकर भी वीरबल विचलित नहीं हुए। वे अत्यन्त विनम्रता से बोले—'जहाँ पनाह ! बे अदबी मुआफ फरमायी जाय। अगर इजाजत मिले तो बन्दा चन्द लमहों में जवाब लेकर हाजिर हो जाय।' जवाब भी क्या कोई चीज है जिसे लेने वीरबल जा रहा था, यह सोचकर बादशाह जरा मुस्कुराये; और मियां खुसरो और उनके साथियों ने यही

[1] अँग्रेजी का आर्च या आर्क और संस्कृत का आर्य=प्रधान, और अर्क=सूर्य एक ही शब्द हैं। आर्च और राजा या राय तथा लैटिन का रेक्स (रीगल या रायेल) समानार्थी शब्द हैं।

समझा कि वीरबल मैदान छोड़कर भाग खड़ा हुआ। अतः वे सब मन ही मन बेहद खुश हुए।

परन्तु कोई आध घण्टे के भीतर ही वीरबल दरबार में हाजिर हो गये। उनके पीछे-पीछे उनके साथ परिचारक भी थे। उन सातों में से दो के हाथ में सूत की रस्सी की एक-एक लुण्डी थी। तीसरे के हाथ में लोहे की एक कील और चौथे के हाथ में एक लोहे का घन था। पाँचवें, छठें और सातवें के हाथ पीठ के पीछे थे। अतः उनके हाथ में यदि कुछ रहा हो तो दिखाई नहीं दे रहा था। वीरबल ने आते ही शाहंशाह को नियमानुसार अभिवादन करके संसार का केन्द्र-विन्दु देखने के लिए बादशाह सलामत को दरबारे खास के भीतरी सहन में चलने के लिए निवेदन किया। मियाँ खुसरो और उनके खास साथियों तथा अपने मंत्रियों के साथ आगे-आगे शाहंशाह जलालुद्दीन अकबर और उनके पीछे-पीछे वीरबल और सबके पीछे वीरबल के सातों आदमी भीतरी सहन में जा पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही वीरबल ने सूत की रस्सी वाली लुण्डियाँ खोलीं और अपने दो आदमियों को रस्सी का सिरा पकड़कर सहन की ऐशानी और नैऋती दिशाओं में तथा दूसरे दो को आग्नेय और वायवी कोण खड़ा करके जिस विन्दु पर दोनों रस्सियाँ एक दूसरी से मिल गयीं वहीं एक निशान बना दिया। वीरबल के संकेत से उनके पाँचवें आदमी ने उस विन्दु पर लोहे वाली कील खड़ी की और छठें ने घन से चोट देकर कील फर्श में गाड़ दी। वीरबल ने झट गड़ी हुई कील के पास जाकर बड़े तपाक के साथ उस कील को संसार का केन्द्र-विन्दु घोषित किया और मियाँ खुसरो की ओर घूमते हुए ललकार कर कहा कि जो इसे संसार का केन्द्रस्थल न मानता हो सामने आये। खुसरो और उनके साथी सभी वीरबल-द्वेषियों ने एक स्वर से वीरबल का समर्थन किया; किन्तु अभी दूसरे प्रश्न का उत्तर देना तो बाकी ही था। वीरबल अब दूसरा उत्तर किस तरह देते हैं, इसकी अपार उत्कट प्रतीक्षा में एकदम सन्नाटा छा गया था। उसी समय वीरबल की आज्ञा पाकर उनका सातवाँ सवार, जो सबके पीछे था, हाथ में रस्सी पकड़े कुछ खींचता हुआ दिखाई दिया। आँगन में उसके पहुँच जाने पर सबने देखा कि एक बहुत ही तगड़ा मेष (मेढ़ा) था, जिसके गले में पड़ी रस्सी को पकड़े वह आदमी सहन में गड़ी हुई कील के पास खड़ा था! वीरबल ने कहा—'जहाँपनाह! हमने बिल्कुल पक्की गणना कर डाली है। सातों आसमानों के कुल सितारों को मिलाकर ठीक-ठीक वही संख्या है, जो इस मेढ़े की चार टांगों, पीठ और दोनों जांघों के भीतर के कुल मिलाकर बालों की संख्या है। अब आलीजाह, वे लोग बुलाये जायं, जिन्होंने यह

सवाल पेश किया था। वे लोग इस मेढ़े को मूंड़ें और इसके बालों की गिनती करें, 'फिर आसमान के सितारों को गिनकर दोनों का ठीक-ठीक मिलान करें। अगर बाल बराबर भी फरक पड़े तो बेशक मेरा सिर कलम कर लिया जाय ?'

बादशाह सलामत को वीरबल की बात बेहद पसन्द आयी। उन्होंने मियाँ खुसरो को तत्काल अपने साथियों की मदद से उसे मेढ़े को मूंड़ने को बुलाया। जब मियाँ खुसरो के एक साथी कैंची लेकर आगे बढ़े तो वीरबल ने बड़ी दीनता के साथ हाथ जोड़कर बादशाह से कहा—'जहाँपनाह ! मेरी जिन्दगी और मौत का सवाल है; इसलिए इन लोगों को ताकीद की जाय कि कोई जगह छूटने न पाये !' सुनते हैं अकबर बादशाह के हंसते-हंसते पेट में बल पड़ गये और उस दिन वे वीरबल से इतने प्रसन्न हुए कि उनके सिर उन्होंने अपने हाथ से नयी पगड़ी बाँधी ! इस बात में किसी को विश्वास हो या न हो, और मियाँ खुसरो को उस मेढ़े के बाल और आसमान के सितारे गिनने पड़े हों या न गिनने पड़े हों; पर इतना तो निश्चित ही है की बेचारे खुसरो मियाँ को मेढ़े का मुण्डन-कर्म करना ही पड़ा था। सच है, जो दूसरों की पगड़ी उछालने की कोशिश करते हैं, खुद उन्हीं की पगड़ी लोगों के पैरों के नीचे रौंदी और सड़क पर उछाली जाती है। बाबा तुलसीदासजी ने भी कहा है—

तुलसी निज कीरति चहैं, पर कीरति को खोय।
तिन के मुंह मसि लागिहैं, मुए न मिटिहैं धोय ॥

जय शंकर 'प्रसाद' ने अपने किसी एक नाटक में बिल्कुल ठीक ही कहा है कि—'जीवन के अन्तिम दृश्य को जानते हुए अपनी आँखों से देखना—जीवन रहस्य के चरम सौन्दर्य की नग्न और भयानक वास्तविकता का अनुभव केवल सच्चे वीर हृदय को होता है।' सचमुच एक वीर पुरुष ही जीवन को एक विनोद की तरह संजोता, और एक विनोद की ही तरह उसे मृत्यु की गोद में धर देता है। अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक जो व्यक्ति अपनी विनोदशीलता को जिन्दा रख सकता है, हमारी दृष्टि में वही सच्चा वीर है। जीवन के अन्तिम क्षणों में मृत्यु का आलिगन करने के पूर्व वाले अपने व्यंग्य और विनोद भरे वचनों के लिए कुछ लोग इतिहास में अमर हो गये हैं। स्काटलैंड की रानी मेरी, सर वाल्टर रैले, पादरी क्रैनमर, लार्ड हौलैण्ड, बैरिस्टर क्यूरान, काभिल-डेस्मोलीन (फ्रांसीसी महाक्रान्ति का एक अग्रदूत), दान्ते, ऐन्टेन चेखोव, खुदीराम बोस, रामप्रसाद 'बिस्मिल', चन्द्रशेखर 'आजाद', आदि महापुरुषों के अन्तिम क्षणों में उच्चारित

उनके शब्दों में उनकी अलौकिक धीरता, वीरता, विनोदशीलता, समाधि-संयुक्त तटस्थता एवं सल्लेखना-संवलित निश्चलता साकार होकर मानस-पटल पर आज भी झूम-झूम उठती है। इतिहास और साहित्य के वक्षस्थल एवं सहृदयों के हृदय में वे शब्द युगों-युगों के लिए पत्थर की लकीर बनकर अमिट हो गये हैं। दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

मृत्यु की गोद में सुखपूर्वक विश्राम करने के लिए सुकरात अपनी सारी तैयारी कर चुके हैं। जिस विष को पीकर उन्हें मरना है वह एक अंगीठी पर चुराया जा रहा है। उनकी शिष्य-मंडली उन्हें घेरकर बैठी विलाप और शोक में मग्न है, और वे यथा-शक्ति सान्त्वना-वर्धक एक-दो बात बीच-बीच में बोल देते हैं। उसी समय उनके प्रिय शिष्य उनसे पूछते हैं—'स्वामिन् ! आपकी अंतिम क्रिया हम किस ढंग से करेंगे ! कुछ आदेश दे सकें तो बड़ी कृपा हो !'

'क्राइटो ! अपनी इच्छा और सुविधा के अनुसार जैसा ठीक समझना कर लेना। बस एक बात खास तौर से कहना चाहता हूँ। कब्र में डालने के पहले मुझे अच्छी तरह कसकर पकड़ रखना; क्योंकि कहीं ऐसा न हो मैं तुम लोगों के हाथों से फिसल भागूं !' सुकरात ने मुस्कुराकर कहा था और थोड़ी देर के लिये सभी लोगों के चेहरे पर हंसी दौड़ गयी थी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी एक बड़े ही उच्चकोटि के हास्य और व्यंग्व के आराधक थे। जिस हास-परिहास एवं व्यंग्य-विनोद की उन्होंने अपने जीवन और साहित्य में सदा उपासना की थी, उसके प्रति जीवन के अन्तिम क्षणों में भी वैसी ही आस्था उन्होंने कायम रखी, और अपने अन्तिम शब्दों में आत्मा की जिस 'हुमास' के दर्शन वे करा गए उसकी स्मृति सहृदयों को सदा ही बनी रहेगी।

जीवन के अन्तिम क्षण में 'बाथ-रूम' से लौटते समब आचार्य पसीने-पसीने हो रहे थे, पैर भी विचलित रह-रह कर डगमगा रहे थे। उनकी पत्नी पूछती हैं—क्या बात है ? शुक्लजी कहते हैं—

'बुलबुल कै नानी, दउरि आवा ! पंखा—ओंखा डोलाय लऽ। नाहिं ई मत कहिया कि सुकुल आखिरी बेलां कौनों सेवा ओवा—नाहीं लिहलें !'

'बुल-बुल की नानीजी' हाथ में पंखा लिए तत्काल पास आ खड़ी हुईं और यह कहती हुई कि 'हर वखत असगुन ही (अपशकुनपूर्ण) बात मुंह से नहीं निकालनी चाहिये।' पंखा झलने लगीं। शुक्लजी बैठकर आंगन में हाथ मटिया रहे थे। मिट्टी लगा हाथ धोया जा चुका था। पत्नी पंखा झलती जा रही थीं। जब कुछ देर हो गयी तो उन्होंने सोचा--वे उठ क्यों नहीं रहे हैं! पर वे अब जमीन पर उठने के लिए रह कहां गए थे? वे तो बहुत ऊपर उठ चुके थे!

●

२१ : बात रह गई थोड़ी !

० ० ०

कुछ लोगों का कहना है कि यह समस्त विश्ववितान ही धोखा, माया या मकड़ी का जाला है, जिसकी लपेट में आकर संसार का प्रत्येक जीव दूसरे जीव को धोखा देता और बेवकूफ बनाता है। अतः, धोखा देना और धोखा खाना जीव का सहज-स्वभाव या उसकी जन्मजात विवशता है। सोने के मृग, मारीच द्वारा भगवान् के छले जाने और राजा बलि के लिए वामन-रूप धरकर भगवान् के छलिया बनने का दृष्टांत प्रस्तुत करके लोग यह प्रमाणित करते हैं कि धोखे से परे रहना ईश्वर के भी भीतर सामर्थ्य से दूर है। इतना ही नहीं, लोग यहां तक कहते हैं कि धोखे ही के कारण यह दुनियादारी का 'खटारा' चला जा रहा है, वर्ना, अगर हम जीवन की तमाम वस्तुओं और स्थितियों को उनके ऊपरी आवरण ही में स्वीकार न करके बाल की खाल निकालने और हर एक बात की तह में घुसने

का प्रयत्न करने लगें, तो हर एक चीज अपने सतही रूप से भिन्न और विकृत या कुरूप दिखाई देने लगेगी। ऐसी स्थिति में जीवन का सारा मजा ही किरकिरा हो जायगा। वास्तव में इस दुनिया या दुनियादारी की बड़ी मुलायम और पतली-सी पपड़ी है, जिस पर हलके-फुलके पैर रख कर चलिए तो चले जाइएगा। इसके विपरीत जो इस पर्त पर एंड़ी गड़ा-गड़ाकर चलता है, उसके पैर के नीचे की मिट्टी धसक उठती है और तब वह एक भी कदम आगे न बढ़कर अपने ही तैयार किए हुए गड्ढे में गिरकर दुनियादारी के काफिले से सदा-सदा के लिए बिछुड़ जाता है! इसी से इस धोखे को बनाए रखने के लिए एक बुजुर्ग बड़े दर्द के साथ कहा करते थे :—

हमको मालूम है जन्नत की हकीकत, लेकिन,
दिल के बहलाने को गालिब यह खयाल अच्छा है।

लेकिन, इस धोखे-धड़ी के सम्बन्ध में कुछ मुझे भी कहना है।

माना मैंने कि इन्सान को धोखा-धड़ी, चालबाजी, ठगहारी (ठगौरी) छद्म, छलछंद (छछंद) आदि की लोग सर्वाधिक चिंता और चर्चा करते हैं, फिर भी, यदि तटस्थ होकर देखा जाय, तो सृष्टि के विराट् छद्म के समक्ष मानव-छद्म की कोई हैसियत नहीं है। 'कैमोपलेज' और 'ट्रिकरी' के जो बे-नजीर नमूने अचेतन और अर्घ-चेतन जीवों के क्रिया-कलाप में नजर आते हैं, मानव की 'रंगकारी' (कैमोफ्लेज) और 'चरकेबाजी' (ट्रिकरी) उसकी परछाईं तक तो पहुँच नहीं सकती। आक्रमणकारी की आँखों में धूल झोंकने या अपने शिकार को धोखा देकर दबोच लेने के लिए तरह-तरह के 'कैमोफ्लेज' करना यानी वातावरण के अनुरूप नाना प्रकार के रंग और तरह-तरह की धारियाँ और पट्टियाँ और बूटे और चित्तियाँ ग्रहण कर लेना तथा वातावरण की तबदीली के साथ ही क्षणभर में उन्हें बदल देना अथवा बदलकर दूसरी धारण कर लेना जलचर, नभचर और स्थलचर सभी मानवेतर प्राणियों में पाया जाता है। यह बहुरूपियापन समुद्र की कई मछलियों में अत्यधिक देखा जाता है। सरीसृपों में गिरगिट का रंग बदलना प्रसिद्ध ही है। रोयें और बदन पर उगे काँटे फुलाकर बिल्ली और सेही (पशु) तथा पर फुलाकर उल्लू और कितने ही दूसरे पक्षी अपने आक्रमणकारी या शिकार को 'ब्लफ' करते रहते हैं! घड़ियाल नदी के तट पर कीचड़ में धंस जाता और जरा-सी अपनी पीठ पानी के ऊपर इस तरह निकाल रखता है कि पानी पीने के लिए आया हुआ पशु उसे किसी लकड़ी का कुंदा या पेड़ का तना समझ लेता है। किन्तु, उस पर पैर रखकर वह ज्योंही पानी पीने लगता है, एक उछाल में वह

ऊपर फिक जाता है। फिर तो पानी में गिरने के पूर्व वह घड़ियाल के जबड़ों के भीतर होता है, जो उसके स्वागतार्थ खुले रहते हैं।

मृत्यु का बहाना करना, अपने से मिलते-जुलते किसी अधिक बलवान् या खरतनाक जीव का प्रतिरूप बन जाना आदि चरकेबाजी भी पशु-पक्षियों तथा कीट-पतंगों को खूब आती है। समुद्र की कई मछलियों को जब खतरनाक जल-प्रदेशों में से होकर यात्रा करना अनिवार्य हो जाता है, तब वे सुरक्षा के लिए 'स्पौंज' या 'ऐनीमोन' जैसे अनगढ़ आकार वाले गैर तैराक जीवों को अपने शरीर पर चढ़ा लेती हैं और तब उनका सारा हुलिया ही बदल जाता है। फिर तो उनके शत्रु भ्रमित होकर ताकते ही रह जाते हैं और वे उनके सामने से निरापद निकल जाती हैं। 'कोरलफिश' (मूँगा मांछ) जिसके शरीर से रह-रहकर तीव्र प्रकाश फैलता रहता है किसी 'ऐनीमोन' की खँडहर जैसी अनगढ़ काया के किसी कोने में आतिथ्य ग्रहण करती है। उसके प्रकाश से आकृष्ट होकर ज्योंही कोई मत्स्य उधर आ टूटता है, 'ऐनीमोन' के सैकड़ों डंक उसे तुरन्त लपेटकर एक-साथ ही चूसने लगते हैं। फिर तो मेहमान और मेजबान दोनों ही की खूब बन आती है !

मेरे यह सब कहने का यह मतलब नहीं है कि मनुष्य एकदम ही दूध का धोआ हुआ है। नौकाथिकों (या पथिकों) का नचाने वाले दामोदर, नारायण और बांसदेव नामधारी 'बैरगियानाला' वाले तीन चोरों, और अमीर खां तथा पीर खां जैसे क्रूर और बेपीर ठगों के बाप-दादे और नाती-पोते इन्सानों की इसी बस्ती में हर कोने में रहे हैं, और हैं भी। उधर पशुओं में भेढ़ें और भैंसे भी होती हैं, जिनके भोदूपन और भोंड़ेपन का संपूर्ण मर्म हमारे 'भेड़ियाधसान' और 'भैंस के आगे बीन बजावै, भैंस लगी पगुराय !' जैसे महावरे और कहावत में भरपूर है। और जैसे अदालत-कचहरी की कंटीली झाड़ियों में उलझकर समानरूपेण मिट जाने वाले दो भाई प्रायः इन्सान की जात में भी पैदा हो ही जाया करते हैं: वैसे ही ताव खा जाने पर आमने-सामने डटकर सींगों में सींग एक बार उलझाकर फिर कभी अलग न कर सकने के कारण, न जाने कितने दिनों तक भूखे-प्यासे, शिर झुकाये, खड़े-खड़े अंत में गीदड़ों और चमगीदड़ों का भक्ष्य बन जाने वाले जन्तुओं (बारहसिंगों) की एक जात पशुओं में भी होती ही है। तथापि, यह कहने में मुझे तनिक भी संकोच नहीं है कि मानव-कुल में दिखाई देने वाला 'छलछंद' संचित और जन्मजात नहीं, वरन्, अर्जित है। इसके विपरीत जड़-सृष्टि और अचेतन अथवा अर्ध-चेतन जीवनों और प्राणियों का छद्म, प्राकृतिक सहज

एवं जन्म-जातिगत है। मानव प्राणी और मानवेतर जीवों के 'छरछंद' एवं छर-छंद रचने की वृत्ति में कई अन्य भेद भी हैं। एक तो मानव की पर-दुःख-कातरता अथवा पर-पीड़न-प्रियता में उसके हृदयतत्त्व का साहचर्य होने से उसकी स्नेहमयी चेष्टाओं के समान ही, उसके विनाशकारी छद्मों में भी मानवेतर जीवधारियों के जीवन की कलापूर्ण तटस्थता और निर्वेद रंच-मात्र नहीं दिखाई पड़ता ! घड़ियाल के आंसुओं और 'लाफिंगहाईना' के हास में राग-द्वेष-राहित्य जिस ऊँचाई को पहुँचा हुआ होता है, मानव उसकी कल्पना तक नहीं कर सकता ! एक बात और मानव की सभी करामातें, उसके सजातियों (अन्य मानवों) ही के शिर पर टूटती हैं। मनुष्येतर प्राणियों के सामने तब उसकी अधिक नहीं चल पाती थी। उदाहरणार्थ एक भेड़िये के पीछा करने पर बिल्ली झट से पेड़ पर चढ़कर जिस मस्ती से भेड़िये की ओर निहार सकती है अथवा पीछा किये जाने पर लोमड़ी जिस ठाट से अपनी मांद में घुसकर आंख दिखा सकती है, क्या किसी मनुष्येतर जीव द्वारा पीछा किये जाने पर कोई मनुष्य भी किसी पेड़ पर चढ़कर, मांद या में घुसकर उस तरह की बेफिक्री बता सकता था ? या पक्षी के समान फुर्र से आकाश में उड़ सकता था ? या जल में प्रविष्ट होकर अपनी रक्षा कर सकता था ? यह दूसरी बात है कि आज का मानव विज्ञान के बल पर 'पछियाये' जाने पर ऊँचा उड़ जाने के लिये 'हेलिकौप्टर' बना चुका है। मांद में घुसने की क्या बात, खानें खोदकर मीलों पृथ्वी के पेट में घुस गया है और जलपोत या पनडुब्बी में बैठकर कितने ही घंटों तक जल में बैठा रह सकता है। फिर भी यह नितांत सत्य है कि मानव अपनी प्राकृतिक अवस्था में एकदम पक्षहीन या परकटा था। बेपर को उड़ाने की कला में एक दिन पारंगत होने की अपार क्षमता वह तब भी अपने में भले ही छिपाये बैठा रहा हो, पर की उड़ान को तो वह कल्पना भी नहीं कर सकता था !

ध्यान देने की बात है कि जिस प्रकार नदी-ताल आदि सरोवरों, नाना प्रकार की वनस्पतियों और घासों से पटे चरागाहों और खोहों तथा गुफाओं के निर्माण द्वारा पशुओं के खाने-पीने, रहने की जैसी सुन्दर व्यवस्था प्रकृति ने की है वैसी कोई भी व्यवस्था उसकी ओर से मानव प्राणी के हित नहीं थी। कहें तो कह सकते हैं कि प्रकृति की ओर से फल-फूल की बन्दरों के लिए; शहद की रीछों के लिये; शलजम-गाजर और मेथी-पालक आदि सब्जियों की भेड़-बकरियों के लिए; घास और अन्य वनस्पतियों के बीज और दानों की चिड़ियों और चींटियों के लिये और पशुओं के दूध की उनके बच्चों के लिये योजना थी। समझ में नहीं आता

कि मनुष्य के लिये कंद-मूल के खोदने और पशुओं के मृत शरीर के लिए शिकार खेलने के अतिरिक्त प्रकृति की ओर से दूसरा आयोजन ही क्या था? यही सब देख-समझ कर कहना पड़ता है कि प्रकृति जिस समय अपनी गृहस्थी जमाने का उपक्रम कर रही है थी, उस समय मनुष्य शायद उसके ध्यान ही में नहीं था। या यह भी हो सकता है कि प्रकृति की निगाह में मानव उसकी उस कोटि की संतान रहा हो जो 'थीसियेस' (दशरथ ?) -सुत 'ऐजियेस' (अज ?), नंद-किशोर कृष्ण और 'ऑडिपस' बीन 'लेयस' की भाँति नाना, मामा या पिता का हंता होने के लिए ही जन्म लेते बताये जाते हैं और जो बाल्यावस्था में घोर अभावों और दुर्भावों से चाहे खूब ही रगड़े गये हों, समय पाकर सब पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिये विकट से विकट कर्म या वारदात कर गुजरने में जरा भी नहीं हिचकते। शायद इसी से प्रकृति की ओर से मानव के साथ ऐसा दुर्भाव बरता गया हो।

एक तीसरी कल्पना भी होती है। जिस प्रकार पोतों-पर-पोतों वाले वृद्ध पुरुष की पूंजी जब उसके कुटुम्बियों में वितरित हो चुकी हो तब अतिवार्धक्य में पैदा हुए उसके पुत्र को पिता से बहुत ही स्वल्प दायभाग मिल पाता है, उसी प्रकार मनुष्य को भी पशु-पक्षियों और अन्य जीवधारियों के करोड़ों-अरबों वर्ष पश्चात पृथ्वी पर आने के कारण प्रकृति की सम्पत्ति के बंटवारे में बहुत कम हिस्सा मिल पाया। मानवेतर प्राणियों की क्षमताओं के साथ मानव की शक्तियों और क्षमताओं की तुलना करने पर मानव को प्राप्त हुये दायभाग की नगण्यता का कुछ परिचय प्राप्त हो सकता है।

तेज से तेज कान वाले मनुष्य के लिए भी उसके शरीर पर पड़े वस्त्रों की जो खिसकन अनसुनी रहती है, वह बिल्ली, भेड़िया, लोमड़ी या शेर जैसे हिंस्र पशुओं को बड़ी दूर से भी स्पष्ट सुनाई दे जाती है। हिरनों और ध्रुवप्रदेशीय लोमड़ियों को कई मील दूर ही से शत्रु या शिकार की गंध मिल जाती है। कुछ लोगों का कहना है कि सर्प की आंखों ही में सुनने की शक्ति है कई जीवधारियों (समुद्र की कई मछलियों) में सूंघने और स्वाद लेने दोनों ही की शक्ति उनकी छाती के सेहरे (स्केल) में होती है, और केकड़ा कान न होने पर भी सुनता है अतः यदि सर्प अपनी आंखों ही से सुन भी सकता तो अच्छा ही था। किंतु, बात ऐसी है नहीं। सर्प मधुकर (महुअर) बाजे की ध्वनि जैसे सुनकर मुग्ध हो जाता है और नाचता है, यह एक भ्रांत धारणा है।

बह तो महुअर बजाने वाले के शिर के हिलने-डुलने का अनुकरण-मात्र करता है। वास्तव में सर्प में श्रवण-शक्ति होती ही नहीं। उसकी घ्राण-शक्ति ही इतनी प्रबल होती है कि वह देखने और सुनने से कहीं बढ़ कर वस्तु-स्थिति का आकलन सूंघकर करता है। छिपकली और घड़ियाल की घ्रांण-शक्ति तो क्षीण होती है किन्तु उनकी रसना शक्ति अप्रतिम होती है। सुग्गे के समान रसनाशक्ति अन्य किसी जीवधारी में नहीं होती ! सारस, बतख और चहा पक्षी की स्पर्श-शक्ति बड़ी प्रखर होती है। गृध्र की दृष्टि तो सर्वविदित ही है। इतना ही नहीं, आज के मनुष्य की अपनी धुआँ-धाक, गोलाबारो और गैस-बिजली आदि पर बड़ा नाज है। किंतु, ये सब प्रकृति ने इस पृथ्वी पर मनुष्य के चरण पड़ने के लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्व ही मनुष्येतर जीवधारियों को अर्पित कर दिए थे ! उदाहरणार्थ 'जेली' नाम की मछली, जो देखने में एक खुले हुए छत्ते की तरह गोल लगतो है और जिसके निचले भाग में लंबी-लंबी आंतों का एक जाल-सा बिछा रहता है, किसी शत्रु या शिकार के पास से गुजरते ही एक साथ ही मशीनगन की सैकड़ों गोलियों की तरह उस पर अपने डंकों की वर्षा कर के उसे एकदम दबोच लेती है। कुछ मछलियाँ ऐसी भी हैं, जो अपने शत्रु या शिकार के ऊपर, अपने शरीर में संचित जल, बंदूक से छूटने वाली गोली की तरह पतली तेज धार में, छोड़कर उसे घायल और बेहोश कर डालती हैं। 'कटल' नाम की मछली पीछा किए जाने पर अपना रंग बदलने के साथ-साथ स्याही का एक घना बादल यानी 'स्मोक-स्क्रीन' भी छोड़ती चलती है, जिससे आक्रमणकारी एकदम कुंठित रह जाता है। कई मछलियों के शरीर में बिजली की शक्ति संचित रहती है, जिससे वे अपने शत्रु या शिकार को स्तंभित कर लेती हैं। एक छह-फुटे ब्राजीलियन ईल में कोई चार सौ वोल्ट बिजली होती है ! अकेले भारतवर्ष ही में सर्पदंश से मरनेवालों की संख्या औसतन् बीस हजार प्रतिवर्ष है। किंतु, बेचारे मानव को अपने नाखूनों को छोड़कर सुरक्षा का अन्य कौन-सा साधन प्रकृति की ओर से मिला था ? मानव की निरीहता और बेबसी किसी समय कितनी पूर्ण रही रोगी, इस बात की कल्पना इन उदाहरणों से भली भाँति हो जाती है। रात्रि के निबिड़ अंधकार में जब मनुष्य को अपना हाथ तक न सूझ पाता था, उसके आक्रमणकारी हिंस्र पशुओं को उसके शरीर का एक-एक रोम स्पष्ट दिखाई देता था। रात ही में उसकी पलकों का गिरना तक उसके घात लगाए हुए पशुओं को साफ-साफ दिखाई देता था। आदि-मानव की अपार आशंका के स्वर निम्न वेद-वाक्य में खूब उभरे हुए हैं:—

'उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ॠंक्षीकांरक्षो अपवाधयासमत्।'

किंतु आदि-मानव ने यही कह कर कि 'यह भी नहीं रहेगा !' उन दुर्दिनों को झेल डाला । प्रकृति के प्रलोभनों और प्रमादों पर लात मारकर उसने केवल अपने पुरुषार्थ का संबल लेकर अनंत विकास के अनंत पथ पर अपनी यात्रा आरंभ कर दी । पशु-पालन तथा खेती-बारी और बागबानी से अपने लिए दुध-घृत, अन्न-तेल, मधु तथा नाना प्रकार के फल-फूल उपलब्ध करने से आरंभ करके आज वह जहां खड़ा है, वहां तक पहुँचने में आदि-मानव को प्रकृति-महारानी की पाकशाला में लोहे के चने चबाने पड़े । किंतु, अपने को सूर्यवंशी समझनेवाले पृथ्वी-पुत्रों ने सूर्य का अनुसरण करके 'चरैवेति!' 'चरैवेति' तथा 'राहेरास्त बरौगरचे दूरस्त !' जैसे महामंत्रों को अपना आदर्श बनकर उन लोहे के चनों को चबा डाला । उन्होंने छद्म का विनाश किया, क्योंकि, स्पष्ट वचन और सीधा आचरण मानव का स्वभाव है और छद्म या 'छछंद' है माया का जाल । यह निशाचरों का कर्म भले ही हो, आर्यों का धर्म नहीं है । मानव-सभ्यता का विकास सीधे मार्ग में चलकर हुआ है, न कि घुमावोंवाली चक्करदार गलियों में चलकर । मानव ने अपनी पूर्णता धोखे खा-खाकर प्राप्त की है, धोखा देकर नहीं । अतः, जिस राष्ट्र में धोखा देनेवालों की संख्या बहुत बढ़ जाती है और धोखा खाने वाले रह ही नहीं जाते, वह राष्ट्र रसातल को चला जाता है । आज हमारे यहाँ अनेक लोग धोखा देना बुद्धिमत्ता और धोखा खाना मूर्खता की निशानी मानते हैं । यह बहुत अच्छे लक्षण नहीं माने जा सकते ।

पुराने समय में लोग दूसरों को धोखा देने की अपेक्षा दूसरों से धोखा खा जाना अधिक श्रेयस्कर मानते थे । कबीरदास जी कहते थे :—

कबिरा आपु ठगाइये, और न ठगिये कोय ।
आपु ठगे सुख ऊपजै, और ठगे दुख होय ।।

यह सच है कि धोखा खाकर भी दूसरों पर विश्वास कायम रखने वाले और बारम्बार क्षति उठाकर भी मानव-सद्भावना पर अपनी आस्था अटूट रखने वाले लोगों को संख्या जिस युग में धोखा देने वालों की संख्या से अधिक रही है, उसी युग ने मानव-संस्कृति के उत्थान में सर्वाधिक योग दिया है ।

दूसरों को दिया जाने वाला धोखा और स्वयं खाया जाने वाला धोखा दोनों ही कई किस्म के होते हैं । कुछ लोग किसी विशेष लाभ की इच्छा से नहीं, वरन् धोखा देने की अपनी सफल कला के प्रदर्शन के लिए ही दूसरों को धोखा देते हैं ।

कोई सत्रह-अठारह वर्ष पहले की बात है। एक दिन सबेरे गोरखपुर के कैप्टन बैनर्जी के दवाखाने (अलीनगर) में मैं बैठा था। डॉक्टर साहब उस दिन न जाने क्यों, नाक-भौं चढ़ाए एकदम सबेरे-सबेरे काफी गंभीर बने दवाखाने आए थे। उसी समय एक ग्वाला हाथ में घी की एक मटकी लटकाए, कंधे पर लाठी संभाले सामने सड़क पर जाता दिखाई दिया। डॉक्टर साहब ने ग्वाले को इशारे से बुलाया। घी का मोल-भाव किया। ग्वाले ने दाम कुछ ज्यादा मांगा। उसका कहना था कि घी एकदम असली था। डॉक्टर साहब ने कहा—'दिखाओ !' उसने मटकी सामने रख दी और कहा—'देख लीजिए !' डॉक्टर साहब ने फिर भी कुछ न समझा और मटकी के मुंहपर बंधा कपड़ा खोल ही डाला। उसकी पेंदी में जरा-सा घी देखकर डॉक्टर साहब ज्यों ही उसे आंखें फाड़कर निहारने लगे, उसने बड़ी विनम्रता से झुककर सलाम किया और कहा—'सरकार ! इनाम मिले !' डॉक्टर साहब हंस पड़े। वह बहुरूपिया था। उन्होंने उसे एक रुपया इनाम दिया और उसकी बड़ी सराहना की। धोखा देने में पूर्ण सफल होने वाला बहुरूपिया कम से कम एक रुपया इनाम पाने का अधिकारी तो हो ही जाता है।

किन्तु वे धोखेबाज सबसे निकृष्ट होते हैं, जो अपने लाभ के लिए दूसरों को धोखा देना अपना व्यापार बना लेते हैं। इधर जब से व्यवसायी बहुरूपियों की कदर घट गई है, तब से दूसरों को धोखा देने और लूटने के लिए तरह-तरह की पोशाक धारण करने वाले नए बहुरूपियों का एक वर्ग समाज में तैयार हो गया है और इन लोगों ने मनोरंजन करने वाले बहुरूपियों के रिक्त स्थान की पूर्ति कर दी है। धोखा देने वालों की अत्यन्त अधम कोटि वह है, जो केवल दूसरों का सत्यानाश करने ही के लिए अबोध और शुद्ध मन के प्राणियों को झूठी किन्तु मीठी बातों और उदारता के प्रलोभनों में फांसने की कला में पारंगत होते हैं। समाज में आज ये अधम धोखेबाज-रूपी भेड़िए काफी संख्या में घूमने लगे हैं।

कभी-कभी समान प्रतिभावाले दो धोखेबाज एक दूसरे को (बिना पहचाने) जब धोखा देने का प्रयास करते हैं। और अपनी समझ में दोनों ही सफल भी हो जाते हैं, तब बड़ा मजा आता है। गौतम बुद्ध का कहना था कि ऐसी लड़ाई लड़ो, जिसमें जीत सभी की हो, हार किसी की न हो ? सच ही ऐसी लड़ाई लड़नेवाले पक्षी और विपक्षी दोनों ही महान् होते हैं। तो क्या वे दो धोखेबाज जो दोनों ही अपने धोखे में अपने को विजयी समझते हों, महान् नहीं हैं ? महान् धोखेबाज तो वे हैं ही। कहते हैं कि पुराने समय में एक मिर्जापुरी धोखेबाज (या ठग)

घी का मटका सिर पर रखकर बनारस की सड़क की ओर चला और एक बनारसी ठग भी उसी दिन एक शक्कर-भरी गगरी लेकर उधर से चला। दोनों में भेंट होने पर सौदा तुरन्त ही पट गया। और 'बदलौन' हो गई। मिर्जापुरी मस्त था कि उसने मटके-भर गोबर से मटके-भर चीनी झटक ली थी और उधर बनारसी ठग खुश था कि उसने गगरी भर बालू देकर एक मटका घी मार लिया था। पर 'ठठेरे-ठठेरे से बदलौन नहीं होती' मसल मशहूर है। थोड़ी देर बाद दोनों का राज खुला तो वे लौट पड़े फिर तो दुनिया को ठगने के लिए दोनों पक्के साथी बन गए! ठीक ही तो कहा है कि --'चोर-चोर मौसेरे भाई!'

कबीरदास के दोहे—

कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजै, और ठगे दुख होय॥

के अनुसार 'आपु ठगे सुख ऊपजै' का एक अर्थ तो स्पष्ट ही है कि कबीर के मत में अपने ठगे जाने पर दूसरे को न ठगने का सुख तो मिलता ही है। इसका एक दूसरा अर्थ यह भी लग सकता है कि मनुष्य को स्वयं अपने-आपको ठगने या धोखा देने में भी सुख मिलता है। आज समाज का नैतिक स्तर गिरा हुआ बताया जा रहा है। फिर भी, यह मानना पड़ेगा कि धोखा खानेवाला व्यक्ति धोखा खा लेने के बाद संतोष कर ही लेता है, किंतु, धोखा देनेवाला व्यक्ति, चाहे धोखा देने के पहलेवाली अपनी आशा के पूर्ण सफल न होने से अथवा धोखा देने के लिए उठे हुए अपने मानसिक उद्वेग के ठंढे पड़ जाने से, धोखा दे देने के बाद कुछ निराश या दुखी होता हो होगा। यह न मानें, तब भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि धोखा देनेवाले व्यक्ति का एक-न-एक दिन दुखी होना अनिवार्य ही है, क्योंकि, चतुर से चतुर धोखेबाज भी किसी दिन पकड़ा ही जाता है। उधर इंसान जितना धोखा अपनी जिन्दगी में स्वयं अपने से (और अपनों से भी)[1] खाता है, उतना गैरों से नहीं। सच तो यह है कि प्रत्येक मनुष्य कोई-न-कोई भ्रांति सँजोए स्वयं अपने को धोखा दे रहा है और उसी बल पर जी रहा है। जिस क्षण उसकी भ्रांति मिट जाय और वह स्वयं को धोखा देने में झिझकने लगे तो निश्चय मानिए, उसी क्षण से उसका जीवन उसके लिए स्वाद-रहित हो जायगा। हमारी राय में बार-बार झटके खा-खाकर भी इस प्रकार अपने को धोखे में फंसाये रखना

---

[1]दोस्तों से इस कदर सदमे उठाए जाने पर।
दिल से दुश्मन की अदावत का गिला जाता रहा॥

मनुष्य की वह जिजीविषा, मोह या जीवन के प्रति अटूट आस्था है, जिसके प्रताप से मानव सभ्यता का यह चमन आज लहलहा रहा है।

सामान्य ढंग से देखने पर भी धोखा खानेवाला—चाहे वह अपने अज्ञान के कारण दूसरों से धोखा खाए, अथवा यह जानते हुए भी कि धोखा खा रहा है, धोखा तो खा ले, किंतु धोखा देनेवाले को इस बात की हवा न लगने दे, निश्चय ही धोखा देनेवाले की अपेक्षा अधिक सुखी रहता है। धोखा देनेवाले की चालों को समझता हुआ भी चुपचाप धोखा खा लेनेवाला इंसान सिर पर सलीब रखकर चलनेवाले ईसा मसीह के अनुयायी के समान है। ऐसे अवतारी पुरुष कभी-कभी ही अवतार लेते हैं और उनके जीवन की ज्योति आगे-पीछे की कई सदियों तक मानव-जीवन के अंधकार को दूर करती रहती है।

किसी धूर्त धोखेबाज के ऊपर दुनियादारी की अल्पज्ञता के कारण विश्वास कर लेनेवाला भोला-भाला प्राणी अपनी वेदना और अनिर्वचनीयता के कारण कभी-कभी ऐसा दयनीय, कारुणिक और अवश बन जाता है कि नराधम धूर्तराज को भी कुछ क्षणों के लिए (कुछ क्षणों ही के लिए) अपने कुकर्मों पर पश्चाताप हो आता है। किन्तु धोखा खानेवालों में से सबसे दयनीय और कारुणिक वेचारे वे अतिशय अबोध और अनजान लोग होते हैं, जिनके हर काम और हर संभाषणों में एक तरफ तो उसका परले सिरे का अहमकपन निखरता है और दूसरी ओर उनके वही कार्य और कथन सहृदयों को उनके उस निर्लिप्त भाव जगत की झलक दिखाते हैं, जहाँ ज्ञान-अज्ञान, लाभ-हानि, और अपने-पराए आदि का भेद-भाव न रहकर सदा एकरस सच्चिदानन्द रहता है; उस भाव-जगत् का दर्शन केवल अबोध बालकों, योगियों और कवियों ही के जीवन में मिलता है। मानव-समाज में ये लोग एक प्रकार से साकार बनकर घूमती-फिरती कविता होते हैं, जिन्हें अपनी-अपनी परख के अनुसार कुछ लोग सूफी या औलिया कहते हैं और कुछ लोग अहमक! आधुनिक विज्ञान को इस बात को गर्व हो सकता है कि आज घर-घर उसने इतनी पर्याप्त सूचना पाट रखी हैं कि इस कोटि के दिवास्वप्न देखनेवाले 'रिप वौन विन्कलों' के पैदा होने की कोई गुञ्जाइश नहीं रह गई है। सच तो यह है कि आधुनिक विज्ञानवाद, अनास्थावाद या हृदयहीन जड़वाद में वह शक्ति और क्षमता ही नहीं रह गई है कि वह इस कोटि के औलिया, पागल या अहमकों को जन्म दे सके।

पिछले जमाने ही की बात है, तब मोटरें नहीं बनी थीं। जैसे अपने पास

मोटर होने का मनोरथ आज कितने ही नौजवान रखते हैं, वैसे ही उस समय भी सवारी के लिए एक घोड़ा (या घोड़ी) होने की बहुतों की उत्कट अभिलाषा रहती थी । घोड़े की सवारी के लिए 'अहकनेवाले' ऐसे ही एक तरुण की कहानी है, जिसे एक दिन रास्ते में पड़ी हुई एक 'रेकाब' दिखाई पड़ गई थी । 'रेकाब' पर निगाह पड़ते ही उसकी अन्तरात्मा निहाल हो गई । उसने मान लिया कि अब उसकी मुराद पूरी हो गई । लपक कर उसने 'रेकाब' उठा ली । उस क्षण उसका आनन्द इतना असीम था कि वह समझता था कि उसे व्यक्त करने में उसे घंटों लग जायंगे, इसी कारण जब वह मंद-मंद मुसकान के साथ कुछ गुनगुनाता हुआ जा रहा था, मस्तिष्क में विचारों के भार के कारण उसके पग बहुत धीरे-धीरे उठ रहे थे । तभी एक बुजुर्ग उधर से आ निकले । उसे यों असाधारण देखकर उन्होंने जब उसके अतिशय आनन्द का कारण पूछा तब वह कुछ शरमाया-शरमाया सा रह गया । दो बार पूछने पर उसने अपने अनिर्वचनीय आह्लाद को काव्य का रूप देकर बड़े तकल्लुफ के साथ यों कहा :—

'बात रह गई थोड़ी—जीन, लगाम औ' घोड़ी !'

अर्थात् उसकी मुराद अब पूरी होने ही वाली है । 'रेकाब' मिल ही गई; बस अब सिर्फ जीन, लगाम और घोड़ी भर की कसर है !

उस अहमक की बात सुनकर कौन न हंसेगा ? बूढ़े मियाँ भी हंस पड़े थे । और आज हम और आप भी हंसते हैं, और देखते हैं अपने जमाने को और अपने जमाने के आदमियों को जो विज्ञान के सहारे आज चन्द्रलोक तक पहुंचने का सफल प्रयास कर चुके हैं । और फिर ज्ञान तथा बुद्धि के अगम मानसरोवर में अवगाहन करनेवाले इन विज्ञान-वेत्ताओं के साथ हम उस अहमक की तुलना करते हैं, जो केवल 'रेकाब' पाकर 'बात रह गई थोड़ी' कहता था । तभी हमारी हंसी रुक जाती है और हमें उस नाचीज पर उसका जीवन के प्रति निर्लिप्त प्यार और निरवलम्ब संतोष देखकर बड़ा तरस आता है । और तभी मन में एक प्रश्न उठता है कि जिस तरह उस अहमक को बात सुनकर हम लोग हंसते हैं, क्या उसी तरह प्रकृति भी उन लोगों पर नहीं हंस रही होगी, जो केवल एक चन्द्रलोक का छोर पाकर 'बात रह गई थोड़ी' समझते और सकल ब्रह्मांड को नाप लेने जैसा अहंकार प्रदर्शित करते हैं ? कौन जाने, उस महामाया की दृष्टि में वह अहमक और ये अहंमन्य बिलकुल एक ही जैसे हों !

●

२२ : कहिये तो कैसे कहें

० ० ०

वह क्या है जो कहना है, मुझे इस समय उसकी चिन्ता नहीं है, क्योंकि यह जान लेने पर ही कि कोई बात कही कैसे जाय, कहने वाले के मुंह में कहने लायक वह बात बनती है। आप कहेंगे कि कहने की अभिलाषा ही स्वाभाविक अतः प्राथमिक है, और उस अभिलाषा तथा कहने की क्रिया (कथन या भाषण) के बीच किसी और की मध्यस्थता की अपेक्षा ही कहाँ है ? मेरा निवेदन है कि बात कहने की अभिलाषा के ही समान स्वाभाविक है कथन के पूर्व उत्पन्न हो जाने वाली एक हिचक। यह झिझक आरम्भ में सभी भलेमानसों को कुछ न कुछ पीड़ा देती है। हाँ, अभ्यास के बाद सधे हुए वक्ताओं के लिये अवश्य यह अन्तर्मुख और अन्तर्हित हो जाती है। सच तो यह है कि बोलने की इच्छा और बोलने की क्रिया के बीच की यही सीढ़ी बोलने के उपयुक्त वचन शैली की जननी है। बात कैसे कही जाय, यह बात, कही जाने वाली बात से कहीं अधिक नहीं तो उसके बराबर

महत्व अवश्य रखती है। वस्तुतः कैसे कहें यह जान लेने पर ही कही जाने वाली बात का समुचित स्वरूप वक्ता के मन में साकार बनता है।

एक ही बात रीत से कही जाने पर वक्ता को सत्कार और पुरस्कार दिलाती, और विपरीत ढंग से कही जाने पर उसे तिरस्कार और कोप का भाजन बनाती है। गीता कहती है कि: 'योगाःकर्मसु कौशलम्' अर्थात् कौन काम कैसे करना चाहिये, यह जानने वाला ही योगी है। मेरा निवेदन है कि कौन बात कैसे कब किस से कहनी चाहिये यह जान लेना ही जीवन की समस्त सफलताओं की कुंजी है। यह जानने वाला महापुरुष स्थितप्रज्ञ कहलाता है। 'स्थितधी किं प्रभाषेत, किमासीत व्रजेत किम् ?' यह स्वयं गीता जी का ही उल्लेख है। किन्तु रीति से अनभिज्ञ वक्ता की सारी बात निष्फल चली जाती है, वह बौरा (बुन्देलखंडी बौरा भी और अवधी बौरा भी) कहलाता है, सच बात ! एक गूंगे के जीवन से, निष्फल वक्ता का जीवन कम दयनीय नहीं होता। दर-दर ठोकरें खाने वाला भिखारी वाणी की निष्फलता का चलता-फिरता प्रतीक ही होता है।

यह जान लेने पर कि कैसे कहूँ मैं इस चिन्ता से भी मुक्त हो जाता कि मेरी सुनने वाला कोई है या नहीं, क्योंकि अरस्तू महान का कथन है कि : 'जिस युग में जहां-कहीं करुणामय किसी वाणी के विधाता को जन्म देता है, वह वहीं उस युग में उस वाणी के लावण्य को चखने और सराहने वाले गुणीजनों को भी अवश्य पैदा कर देता है।' उनका कहना सचमुच कैसा यथोचित है ! जहां सूर्योदय है, वहीं उत्फुल्ल कमल हैं ! जहां चन्द्रोदय है, वहीं कोईं है। जहां वीणा है, दीपक है, वहीं कुरंग हैं, पतंग हैं ! और कहीं-कहीं तो जहां भरद्वाज हैं वहां स्वयं याज्ञवल्क ही पहुँच जाते हैं।

सोचता हूँ, कैसा होता होगा वह वाणी का विधाता, और कैसे होते होंगे उसके सुबोल ! जायसी जी के शब्दों में अत्यन्त अमृतमय होते हैं उस सुवक्ता के बैन। उसके एक-एक बोल प्रेम-रस से पूरित मानों 'रतन-पदारथ' (मणि-माणिक्य) ही होते हैं :—

रतन-पदारथ बोल जो बोला।
सुरस-प्रेम मधु भरा अमोला ॥
रसना कहौं जो कह रस-बाता।
अमृत बैन सुनत मन राता ॥

भरे प्रेम रस बोलै बोला ।
सुनै सो माति घूमि कै डोला ।।
एकएक बोल अरथ चौगुना ।
इन्द्रमोह बम्हा सिर धुना ।।

और अरस्तू महान की ही तरह जायसी जी भी कहते हैं कि ऐसे वाणी के विधाताओं का स्वर विशेष ऋतु (युग की विशेष परिस्थितियों) में ही सुनने को मिलता है :—

हरै सो सुर चातक कोकिला । बिनु बसंत वह बैन न मिला ।।

और जिन कानों में यह स्वर एक बार पहुंच जाता है, मानों उनमें अमृत भर गया । ऐसे सुवक्ता का शरीर भले ही सदा के लिये उठ जाये, उसके स्वर सदियों तक दिलों में गूंजते रहते हैं :—

हुई मुद्दत कि 'गालिब' मर गया ! पर याद आता है ।
वह हर इक बात पर कहना कि यूं होता तो क्या होता !

अजीब उलझन में पड़ गया हूँ दोस्त ! कुछ कहना तो दूर विदा की इस बेला में कुछ कैसे कहूँ, अपनी इस चिन्ता में परेशान ही था कि एक तीसरा प्रश्न द्वार पर आकर दस्तक देने लगा ! कानों में कहीं से आवाज आई कि :—

बोलिये तौ जब बोलिबे की सुधि होइ,
न तो मुख मौन गहि चुप होइ रहिये !

और यह आवाज ऐसी नहीं जो सुनी-अनसुनी कर दी जाय, क्योंकि आवाज के साथ ही, पौने तीन सौ साल पूर्व साँगानेर (जयपुर) में जिस स्थान पर उन महापुरुष की अन्त्येष्ठि-क्रिया हुई थी उस स्थान पर बनी, और मार्च १९३५ में अपनी देखी वह गुमटी, और उस गुमटी में जड़ी स्फटिक की तख्ती तथा उस तख्ती में उत्खात निम्नांकित वह लेख, सब के सब एक साथ ही मानस-पटल पर वैसे ही झलमला उठे जैसे उस दिन वे धूप में झलझला रहे थे :—

संवत् सत्रह सै छीयाला । कातिक सुदि अष्टमी उजाला ।।
तीजे पहर भरस्पति बार । सुन्दर मिलिया सुन्दर सार ।।

भगवान बुद्ध ने कहा था कि लड़ाई लड़ो भी तो ऐसे जिससे सभी की जीत हो; हार किसी की भी न हो। जायसी जी का कथन है कि बात ऐसी बोली जाय जिसका सभी से अनुरोध हो, विरोध किसी से भी न हो। ऐसी प्रज्ञा किस में होती है? जायसी जी बतलाते हैं। केवल पंडित में। पंडित वह है जो खंडित (अपमानों से पीड़ित) होने पर भी दोषरहित बना रहे। धोखा खाने पर भी पंडित से धोखा नहीं होता। असल पंडित कभी गलत काम नहीं करता 'असल से दगा नहीं, कम असल से वफा नहीं!' जायसी की अमर वाणी में :—

पंडित दुख खंडित निरदोखा।
पंडित हुतें परै नहिं धोखा॥
पंडित केरि जीभ मुख सूधी।
पंडित बात न कहै बिरूधी॥

और मैं भी सोचता हूँ काश मेरे माता-पिता ने मुझे पांड़े न जनमा कर पंडित ही जनमाया होता; और तब मुँह में 'सूधी' (सीधी और शुद्ध) जीभ होती, और बोलने की 'सुधि' याचेत (या सहूर, लूर या सलीका) अपने आपही रहा आता, और मैं कैसे बोलूं, क्या बोलूं, और कब बोलूं, आदि चिन्ताओं से एकदम मुक्त सदा विरोध-रहित बोला करता। किन्तु होनहार यह न था, और हाल अब यह है कि कुछ कहने के लिये ज्योंही जीभ डुलाना चाहूँ, गले में 'डफली' (डिफली नहीं!) बांधने के कारण सुवक्ता और ज्ञानी घोषित डाक्टर हरगू लालजी की वक्र-भृकुटि सामने कौंध जाती है और मुझे भी उनका दिया हुआ संदेह छू जाता है कि बोलने का तुक-ताल अपने में है या नहीं; और तभी सुन्दरदास जी की उस अमर घनाक्षरी का (जिसके प्रथम चरण का पहले उल्लेख हो चुका है) यहां अंतिम चरण—'तुक भंग, छन्द भंग, अरथ मिलै न कछू, 'सुन्दर' कहत ऐसी बानी नहिं बोलिये!'—याद आता है, और मैं तदनुसार आचरण करता, यानी मौन हो रहता हूँ।

पर मेरा यह चुप रहना है कैसा?

० ० ०

न कहने या न बोलने, और चुप रहने तथा मौन धारण करने में बड़ा अंतर है। चुप रहना निर्बलता और बेबसी के हाथ में टेक लेने की लकड़ी है, तो मौन है शक्तिमान के बाहु में सुशोभित ब्रह्मास्त्र। महाकवि अकबर कहते थे :—

मैंने माना कि तुम्हारी नहीं सुनता कोई।
सुर मिलाना तुम्हें क्या फर्ज है शैतान के साथ?

सो कभी-कभी शैतानों के बीच आ फँसे भले आदमियों को भी शैतान के सुर में सुर मिलाने के बजाय चुप रहना ही उचित जान पड़ता है। या चुप्पी या मौन 'माइनौरिटी,' अल्पसंख्यता या अकलियत का मौन कहा जा सकता है। लेकिन अकसर इनसान को चुप रहना पड़ता है, समुचित न बोल सकने की उसकी ही अनभिज्ञता के कारण। और कभी-कभी सुनने वालों की अनिच्छा और वर्जना के कारण भी। ऐसे अनाड़ियों में भी यदा-कदा कोई काफी होशियार निकल आते हैं जो चुप रहने का अभ्यास करके कभी भारी कमाल कर दिखाते हैं। कौन नहीं जानता उस 'महान पुरुष' की कहानी, जो उसी डाल को काट रहा था जिस पर बैठा था, पर कुछ सयाने जो मिल गए तो उनके इशारे से चुप रह कर उस युग की सबसे प्रसिद्ध विदुषी को शास्त्रार्थ में पराजित कर देने का श्रेय उसने हलोर लिया था! 'एक चुप हजार को हरावे' मशहूर ही है। हाँ जबान खोलते हो इनकी कलई खुल जाती है। कहा भी है कि :

'जानि परतु हैं काक पिक, ऋतु बसन्त के माँहि !'

किन्तु वास्तविक मौन का संसार ही निराला है। अध्यापक पूर्णसिंह जो ने 'आचरण की सभ्यता' निबन्ध में मौन व्याख्यान के चिरंतन प्रभाव का विशद उल्लेख किया है। सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी समीक्षक जुवेअर (Jovbert) ने शैली की परिभाषा देते हुए 'संयम (या रुक रहने) की गुणज्ञता ही शैली है' (स्टाइल इज दि क्वालिटी टु कीप बैक) कहकर जिस मूकता की ओर संकेत किया, और मौलाना अबुल कलाम आजाद ने—

तू नज़रबाज़ नई वर्ना तग़ाफ़ुल निगहस्त।
तू ज़बाँ फहम नई वर्ना खमोशी सुखनस्त ॥[1]

कहकर जिस मौन की ताईद की उसको पूर्णता तक पहुँचाया था गौतम बुद्ध ने, और शंकराचार्य के समसामयिक एक आचार्य ने भी। प्रसिद्ध है कि जब आनन्द ने तथागत से दोबारा प्रश्न किया था कि ईश्वर है या नहीं, तब भगवान् ने कहा था : 'आनन्द ! प्रश्न कई प्रकार के होते हैं जिनमें से कुछ के उत्तर हाँ या ना से, कुछ के उत्तर प्रवचन से, और कुछ प्रश्नों के उत्तर प्रश्नों से ही दिये जाते हैं। किन्तु आनन्द ! कुछ ऐसे प्रश्न भी होते हैं, जैसा कि तुम्हारा प्रस्तुत प्रश्न

[1] तू दृष्टि का मर्मज्ञ नहीं है वर्ना (यह जानता कि) उपेक्षा भी देखना है।
तू वाणी का विशारद नहीं है वर्ना (यह जानता कि) मौन भी संभाषण है ॥

हैं, जिनका उत्तर मौन से ही होता है।' कहा जाता है कि यह कहकर तथागत मौन हो गये थे। और शंकराचार्य ने अपनी यात्रा में गुजरात में किसी आश्रम में एक तरुण आचार्य को देखा था जो वयस्क शिष्यों के संशयों को उन्हीं के (शंकराचार्य जी के) शब्दों में—'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तुच्छिन्न संशयाः' —अपने मौन व्याख्यान से उच्छिन्न कर रहे थे!

समीक्षक सम्राट् सान्त-बूम्र की समीक्षा की आलोचना में जब किसी ने यह कहा कि उनकी 'समीक्षायें निर्णयात्मक वक्तव्यों' से विहीन होती हैं तो उन्होंने जवाब दिया था कि 'अभी तो हमारी शताब्दी का जहाज समुद्र-पथ में अपनी यात्रा पर चला ही जा रहा है। जब निर्दिष्ट किनारा दिखाई देने पर वह बंदर-गाह में लंगर डाल देगा तभी हम निश्चय के साथ कह सकेंगे कि हमने कितनी मंजिलें पार कर लीं और कितनी अभी पार करनी शेष हैं!' यही बात कबीर दास जी ने बहुत पहले यों कही थी :

पहुँचेंगे तब कहेंगे, अमड़ेंगे उस ठाइँ।
अबही भेरा समंद में, बोलि बिगूचैं काइँ॥

व्यथा, वियोग, निराशा, प्रतिशोध, लांछन, द्वेष, अपमान और क्रोध के दुसह परितापों के महार्णव में डूब चुका प्राणी यदि अन्तस्तल तक जाकर भी किसी प्रकार उपराये, और फिर मझधार में लहरों के साथ जूझता-जूझता जेसे-तैसे संतरण करता तट पर जा पहुँचे तो हाँफना बन्द होने पर वह कह सकने का अधिकारी है। किन्तु तभी जब उसका श्रम और विषाद मिट चुका हो। जिस समय वह डूब रहा या तैर रहा हो, उस समय कोई दर्शक कुछ कहे या वह स्वयं ही यह कहे कि तट पर पहुँचूँगा तब कहूँगा तो उस काल का वह सोचना या कहना कबीरदास के शब्दों में 'विगूचन' ही होता है। तट पर पहुँच कर वह अपनी व्यथा की कथा तो नहीं ही कहना चाहता। महाकवि 'गालिब' एक ऐसे ही भरपूर डूबे हुये मानव थे। उनका कहना था कि :

सफीना जब कि किनारे पै आ लगा 'गालिब'।
किसी से क्या सितमो जौरे ना खुदा कहिए॥

अर्थात् जब नाव किनारे पर आ लगी तो अब किसी से मल्लाह के उत्पीड़नों का जिक्र ही क्यों किया जाय!

और अत्यन्त आन्तरिक आह्लाद में भी इन्सान मौन ही रहता है। कबीरदास कहते थे :—

मन मस्त हुआ तब क्यों बोलै !
हीरा पाया गांठ गंठिआया, बार-बार वाको क्यों खोलै !!

सत्य ही अत्यधिक आनन्द और आह्लाद मानव के जीवन में उसका महानतम वरदान है। और अतिशय व्यथा और विषाद भी वरदान ही है जिसके मौन को पाकर आज मैं भी सौभाग्यशाली हूँ। मुझे अपने इस वरदान का सन्तोष है क्योंकि इस जगत में मानव हैं, सन्त हैं, और देवता भी बहुत हैं जो दादूदयाल के शब्दों में कहा हुआ तो समझते ही हैं, संकेत और मौन मर्म को भी पहचान लेते हैं:—

कहे लखै सो मानवी, सैन लखै सो साध।
मन की लखै सो देवता, 'दादू' अगम अगाध !!

●

परिशिष्ट

'धर्मयुग' के २७ नवम्बर १९६० ई० के अंक में 'शाहों में शंकर' के प्रकाशन के बाद महाराष्ट्र के राज्यपाल महामहिम श्रद्धेय डा० श्री श्रीप्रकाश जी का पत्र मुझे मिला, जिसे ज्यों का त्यों यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। इससे 'भक्कर' शाह के संबंध में वास्तविक जानकारी होती है। परिशिष्ट (ख) और (ग) में क्रमशः 'शाहों में शंकर' की पुत्रवधू सौभाग्यवती धर्मशीला श्रीमती पुष्पलता धर्म प्रताप का पत्र, तथा 'शंकर' की ज्येष्ठ पुत्री श्रीमती इन्दुमती देवी का पत्र उद्धृत है; और परिशिष्ट (घ) में शाह (साहु या साह भी) वंश की वर्तमान तीन पीढ़ियों का विवरण है।

परिशिष्ट (क)

महाराष्ट्र गवर्नर्स कैंप,

२४ नवम्बर, १९६०

प्रियवर नमस्कार,

आपके १४ नवम्बर के कृपा-पत्र का उत्तर मैंने १८ नवम्बर को भेजा था। आशा है मेरा पत्र आपको मिल गया होगा। कल मुझे २७ नवम्बर का 'धर्म-युग' मिला जिसमें चाचाजी श्री सीतारामजी के सम्बन्ध में का आपका लेख पढ़ा। आपने इतने प्रेम, उत्साह और श्रद्धा से लिखा है, इसके लिये मैं हृदय से अनुगृहीत हूँ। वास्तव में मेरे चाचाजी अनुपम व्यक्ति थे। उनके जैसा सच्चा और शिष्ट पुरुष मैंने तो नहीं देखा। उनके मुँह से कभी भी किसी की बुराई नहीं सुनी, यद्यपि बड़े से बड़े लोग भी इस दोष से वंचित नहीं हैं। अंग्रेजी का शब्द 'जेंटलमैन' को वे हर प्रकार से चरितार्थ करते थे। खेद है कि यह सुन्दर शब्द अब वीभत्स अर्थ में प्रयोग होने लगा है, पर वास्तव में यह बहुत ही सुन्दर शब्द है, और ऐसे मनुष्य का द्योतक है जो वास्तव में आदर्श हैं। मैंने अपने चाचाजी में ये सब गुण पाये थे, और वास्तव में उनके संसार से उठ जाने से एक बड़ी भारी मर्यादा और पम्परा उठ गई, पर वे करीब ८० वर्ष के हो चुके थे और इधर वर्षों से बहुत रुग्ण रहा करते थे। उन्हें बड़ी शारीरिक

पीड़ा थी, इस कारण उनके लिये तो अच्छा ही हुआ कि वे मुक्त हो गये। हाँ, हम सब लोगों के मन में दुख तो है ही।

'झक्कर' की जो उपाधि मेरे कुटुम्ब को मिली है, उसका सम्बन्ध साव मुकुंदलाल से है जो अठारहवीं शताब्दी के अंत और १६वीं शताब्दी के आरम्भ में थे। साह गोपालदास ने, जो १८ वीं शताब्दी के तीसरे चरण में भारत के इने-गिने बड़े व्यापारियों में थे, और जिनके सम्बन्ध में कितने ही पत्र मुझे भारत सरकार और मद्रास सरकार से मिले हैं, इस कुल के वैभव की नींव डाली थी। उनके पिता साव मइयाराम, पितामह साव बिहारी साव, प्रपितामह साव सुन्दर दास, और वृद्धि प्रपितामह साव कल्याणदास थे। उसके पहले का पता नहीं है। साह गोपालदास के पुत्र साव मनोहर दास थे जिनका ही विशेष रूप से नाम है, और इन्हीं के नाम हमारा कलकत्ते का कटरा है, और सड़क, तालाब आदि स्मारक-चिह्न हैं। साव मनोहर दास के लड़के साव मुकुन्दलाल थे जो 'झक्कर साह' के नाम से मशहूर हुए, और उन्हीं के सम्बन्ध में यह सब दंत-कथायें हैं जिनका उद्धरण आपने किया है। साव मनोहर दास प्रचुर धन-राशि छोड़ गये थे। अँग्रेजों की टीपू सुलतान के विरुद्ध लड़ाई (सन् १७६६) में उन्होंने बहुत धन कमाया था। उसी को साव मुकुन्दलाल ने विचित्र रूप से अपव्यय किया, इस कारण वे "झक्कर" कहलाये। तथापि जो कुछ बचा उसी से ही हम सब सात पुश्त तक आराम से रहते आये हैं।

इसका प्रमाण भी मुझे हाल में केदार बद्रीनाथ की यात्रा में मिला। केदारनाथ में अपने पुश्तैनी पंडे की बही में मैंने अपने प्रपितामह साव विश्वेश्वर दास उर्फ सरजूदास का हस्ताक्षर पाया और उन्होंने अपनी वंशावली देते हुए लिखा है कि वे साव जानकी दास के पुत्र और साव मुकुन्दलाल (झक्कर साव) के पौत्र हैं। 'झक्कर' शब्द का विशेष रूप से निर्देश किया है।

जब आपने इतना कष्ट उठाकर मेरे कुटुम्ब के सम्बन्ध में ऐसे साधु भाव प्रकट किये हैं, तो मैंने समझा कि यह सब वास्तविक घटनाएँ मैं आप को लिख दूँ। संभवतः आपको इसमें रस हो। मैं आपके प्रेम और कृपा के लिये हृदय से अनुगृहीत हूँ। अपने चाचाजी श्री सीतारामजी साह के पुत्र श्री सूर्यप्रताप साह के पास आपके लेख की कतरन भेज रहा हूँ। अवश्य ही उन्हें भी इसे देखकर प्रसन्नता होगी। पूर्व कार्य-क्रम के अनुसार मैं ३० नवम्बर को

सागर पहुँच रहा हूँ, और दूसरे ही दिन अर्थात् एक दिसम्बर को प्रातःकाल वहाँ से चला आऊँगा। यदि इस बीच में आपसे मुलाकात हो जायगी तो मुझे विशेष संतोष होगा। आप अपना परिचय स्वयं मुझे दे दीजियेगा क्योंकि संभवतः मैं आपको पहचान न सकूँगा। इसके लिये पहले से ही क्षमा माँग लेता हूँ।

आप स्वस्थ और प्रसन्न होंगे।

सधन्यवाद आपका
—श्री प्रकाश

श्रीं राजनाथ पाण्डेय जी,
सहायक प्रोफेसर (हिन्दी विभाग)
सागर विश्वविद्यालय, सागर
(मध्य प्रदेश)

परिशिष्ट (ख)

(सौभाग्यवती पुष्पलता प्रताप का पत्र)

Phone 2951

SIDDHASHRAMA
KAMACHHA
VARANASI—1
२८–११–६०

आदरणीय पाण्डेय जी की सेवा में सादर प्रणाम स्वीकृत हो।

पूज्य धर्मप्रताप जी के नाम आपके भेजे दोनों पत्र मिले थे। धर्मप्रताप जी विशेष शिक्षा प्राप्त करने के हेतु ऑक्सफोर्ड गये हुए हैं। इसी कारण आपको कोई पत्र नहीं भेज सके। आशा है आप उन्हें क्षमा करेंगे।

आप का लिखा हुआ श्रद्धा-भक्ति और सद्भावना से ओत-प्रोत लेख स्वर्गीय देवतुल्य पूज्य बाबू जी के ऊपर लिखा 'धर्म युग' में पढ़कर हृदय आपके प्रति कृतज्ञता से भर गया। उनके समान अजातशत्रु, स्नेही, उदार और उच्च विचारों के व्यक्ति यदाकदा ही जन्म लेते हैं, इस विचार से मैं पूर्णतया सहमत हूँ। परन्तु इन गुणों को समझकर स्वीकार करने वाला व्यक्ति, और उसके

पश्चात् स्मरण रखने वाले गुणी भी बड़े ही दुर्लभ होते हैं। 'गुण ना हिरानो, गुण-ग्राहक हिरानो है।' आप गुण-ग्राही हैं, महापुरुष के सम्पर्क में आकर उससे लाभ उठाना जानते हैं। उस अमूल्य स्मृति को सहेज कर रखना जानते हैं, अपने उद्‌गारों की मणियों को भाषा की माला में पिरोना जानते हैं। अपने इस निस्वार्थ स्नेहपूर्ण व्यवहार से आप हमें अपने परिवार के सदस्य के समान जान पड़ने लगे हैं।

हम लोग भी पूज्य बाबू जी के अभाव को कभी नहीं भूल पाते। वे गये तो जैसे घर की शोभा उठ गई। परन्तु उनके साथ रहकर भी हमने उनके गुणों से कुछ भी लाभ न उठाया। हम वैसे ही बने रहे। आपने उनके विचारों को जीवन में उतारने का प्रयास किया। आप उनके अधिक निकट हैं। उनके मानस-पुत्र तुल्य हैं। उनके आशीर्वाद से आपकी प्रतिभा का सदा विकास होगा।

हम सब अपनी कृतज्ञता आपको भेंट करते हैं। एक प्रति "धर्म युग" की मैं अपने पति के पास भेज रही हूँ।

आपकी कृपा के आभार से अवनत

विनीता

पुष्पलता प्रताप

(पत्नी श्री धर्म प्रताप जी)

परिशिष्ट (ग)

('शंकर' की सबसे बड़ी सन्तान बहिन इन्दुमती जी का पत्र)

प्रिय भाई राजनाथ जी सादर नमस्कार,

आपको कौन से शब्दों में धन्यवाद दूँ ? भाई आपके मन में मेरे पूज्य पिताजी के लिये इतनी श्रद्धा है यह जानकर मैं हर्ष से पुलकित हो गई। भाई आपने जो मेरे पूज्य पिताजी के लिये लिखा की 'शाहों में शंकर' यह पूज्य पिताजी के लिये बिलकुल सही लिखा। आपके मन में उनके प्रति इतनी श्रद्धा है, इसके लिये बहुत धन्यवाद। भाई आप सोचेंगे कि यह चिट्ठी किसने लिखी सो आपको अपना परिचय दे दूँ। मैं प्रोफेसर धर्मप्रताप जी की सबसे बड़ी

बहन हूँ। भाग्यवश मैं भाई लोगों ही के साथ रहती हूँ। वास्तव में पिताजी महान त्यागी, उदार, शंकर के समान रूप वाले थे। मैं ज्यादा पढ़ी-लिखी नहीं हूँ। गलतियों को क्षमा करेंगे।

—इन्दुमती
४-१२-६०

परिशिष्ट (घ)

(शाह-वंश के आधुनिक रत्न)

काशी के साव, साहु, साह या शाह-वंश के पूर्वज आगरे और करनाल के बीच स्थित अगरोहा के निवासी थे जहाँ से आकर उन्होंने प्रयाग, चुनार और अहरौरा में सत्रहवीं शताब्दी में अपने व्यापारिक संस्थान प्रतिष्ठित किये थे। लगभग दो सौ वर्ष पूर्व कल्याणदास साह तथा चिन्तामणि दास शाह ने काशी आकर वहाँ कोठी बनवाई। इन्हीं कल्याणदास साह की दसवीं पीढ़ी में शाह माधोदास (१८४४ से १८६७ ई०) के चार पुत्र-रत्नों में कनिष्ठ हमारे 'शाहों में शंकर' हुए। शाह माधोदास के चार पुत्र-रत्न श्री गोविन्ददास (१८६६—१९२६ ई०), 'भारत-रत्न' डा० भगवानदास (१२ जनवरी १८६९--१८ दिसम्बर १९५८), 'पंडित' राधा चरण शाह (१८७३—१६ मई १९२२ ई०) तथा श्री सीताराम शाह (१८७७--२२ नवम्बर १९५७ ई०) हुए। उनकी दो पुत्रियाँ सौभाग्यवती रामा बीबी तथा सौ० चन्द्रावली बीबी थीं।

श्री गोविन्ददास जी के चार पुत्र श्री श्रीनिवास (सन् १८८६), श्री श्रीविलास (१८८९-१६ नवम्बर १९४४), श्री श्रीनन्दन (१८९७ ई०) तथा डा० श्री श्रीरंजन (१८९९ ई०) हुए। श्री श्रीनिवास जी के दो पुत्रों का नाम श्री हर्ष वर्धन (जन्म १९१२ ई० मरण ५ अगस्त १९५३) तथा श्री आनन्द वर्धन (जन्म १९२६; पत्नी श्रीमती प्रभादेवी) हैं; और पौत्रों के नाम श्री अंशुमान और श्री दीप्तिमान हैं। श्रीनिवास जी की बड़ी पुत्री सौ० सुनति का विवाह काशी के प्रसिद्ध उद्योगपति श्री कृष्णदास जी (रत्ना सुगर मिल्स वालों) के साथ तथा सौ० सविता देवी का विवाह मुजफ्फर नगर के प्रसिद्ध उद्योग-पति श्री केशव कुमार स्वरूप जी के साथ हुआ।

श्री श्रीविलास जी के दोनों पुत्रों के नाम श्री सत्यवर्धन (जन्म सन् १६२२, पत्नी श्रीमती प्रमिला देवी) तथा श्री प्रेमवर्धन (जन्म सन् १६२४, पत्नी श्रीमती सुधा देवी) तथा (२+३) पाँच पौत्रों के नाम क्रमशः श्री श्यामजी, श्री ध्रुवजी, श्री आदित्यजी, श्री अनन्तजी तथा श्री अतुलजी हैं। इनकी बड़ी पुत्री सौभाग्यवती सौदामिनी का विवाह श्री हरिश्चन्द्र आई० सी० एस० के साथ; तथा सौ० माधुरी का विवाह कानपुर के अग्रवाल समाज के अग्रणी श्री बद्रीनाथ अग्रवाल के साथ हुआ।

श्री नन्दनजी के दो पुत्रों के नाम क्रमशः श्री प्रताप वर्धन (जन्म १६३० ई०, धर्मपत्नी श्रीमती उमादेवी) तथा श्री राज्यवर्धन (जन्म १६३८ ई०) है। आपकी बड़ी पुत्री सौ० प्रतिभा का विवाह श्री प्रेमदेव तायल, बार-ऐट-ला (हिसार) के साथ, तथा सौ० उर्मिला का विवाह कलकत्ते के सुप्रसिद्ध उद्योगपति तुलसीराम जी कानेरिया के साथ हुआ।

'भारत-रत्न' डा० भगवानदास जी के ज्येष्ठ पुत्र देश-रत्न, महामहिम राज्यपाल श्री श्रीप्रकाश जी तथा श्री चन्द्रभाल जी हैं।

श्री श्रीप्रकाश जी (जन्म १८६० ई०) पुत्रों के नाम श्री यशोवर्धन (जन्म १६२२ ई०, धर्मपत्नी कामिनी देवी) तथा श्री तपोवर्धन जी (जन्म १६२४, मृत्यु २८ अक्टूबर १६५६) है। आपकी सबसे बड़ी कन्या सौ० प्रभावती देवी का विवाह श्री ओंप्रकाश जी इंजीनियर (रुड़की-निवासी) के साथ तथा दूसरी कन्या सौ० सुधावती का विवाह भागलपुर के रईस श्री सत्येन्द्र नारायण जी (एम० एल० ए०) के साथ हुआ।

श्री चन्द्रभाल जी (१८६४ ई०) के पाँच पुत्र रत्नों के नाम क्रमशः श्री इन्दुभूषण (जन्म १६१७, धर्मपत्नी श्रीमती पुष्पादेवी), श्री विधुशेखर (जन्म १६२० ई०, धर्मपत्नी श्रीमती कुसुम), श्री सुशील कुमार (जन्म १६२३ ई०); श्री शशिभूषण (जन्म १६२५ ई०, धर्मपत्नी श्रीमती सरोज) तथा श्री चित्तरंजन (जन्म १६२७ ई०, धर्मपत्नी श्रीमती वीणा देवी) है और (२+१+२+१) छः पौत्र-पुत्री के नाम क्रमशः श्री भानुप्रकाश, श्री प्रभाकर, सुश्री सुजाता, श्री राजीव, श्री रत्नाकर, तथा श्री पुष्कर है। श्री चन्द्रभाल जी की एक पुत्री प्रियम्वदा देवी जी एम० एस-सी० हैं।

श्री राधा चरण जी के पुत्र श्री श्रीनाथजी शाह (जन्म १८९४ ई०) के पाँच पुत्र-रत्नों के नाम क्रमशः श्री उदय सरोज (जन्म १९१७ ई०, धर्मपत्नी श्रीमती विमलादेवी), श्री भानुप्रताप (जन्म १९२३ ई०, धर्मपत्नी श्रीमती अन्नपूर्णा देवी), श्री प्रभात रंजन (जन्म सन् १९२५ ई० धर्मपत्नी श्रीमती पुष्पादेवी), श्री अरुण प्रकाश (जन्म सन् १९२७ ई०, धर्मपत्नी श्रीमती इन्दिरा देवी) तथा श्री चन्द्रशेखर (जन्म सन् १९३२ ई०) है। श्री प्रभात रंजन जी के एक पुत्र हैं जिनका नाम चि० विजय वर्धन है।

श्री श्रीनाथ शाह जी की बड़ी पुत्री सौ० हरिप्रिया देवी बी० ए०, का विवाह श्री वेद प्रकाश जी गुप्त (अलीगढ़) के साथ; सौ० सुषमा एम० ए०, एम० एड० का विवाह श्री सिद्धि-साधन स्वरूप जी (मुजफ्फर नगर) के साथ हुआ। इनकी तीसरी कन्या का नाम सुश्री उषाकुमारी है।

श्री सीताराम जी शाह क्रिकेट, टेनिस और बिलियर्ड के अपने समय के प्रख्यात खिलाड़ी थे। ये एक अच्छे शिकारी भी थे। गीता और कई उपनिषदों के पद्य एवं गद्य में इनके किए हुए अनुवाद बहुत सफल माने जाते हैं। जंगली जानवरों के सम्बन्ध में लिखी हुई पुस्तक, तथा ग्राम्य-जीवन से सम्बन्धित ग्राम-भाषा में लिखी इनकी कहानियाँ बहुत मनोरंजक हैं। ये प्राचीन चित्रों के पारखी, संगीत के प्रेमी, बड़े ही निष्कपट, प्रेमी, सरल और मिलनसार महापुरुष थे।

इनकी सबसे ज्येष्ठ सन्तान सौ० इन्दुमती रानी हैं। इनका विवाह गया के बड़े प्रतिष्ठित वैश्य कुल में हुआ। दूसरी कन्या सौ० वसुमती का विवाह श्री महेश शरण जी गुप्त एम० एस-सी० (बदायूँ) के साथ हुआ। आपके चार पुत्र-रत्न श्री सत्यप्रताप जी (जन्म १९१० ई०, धर्मपत्नी श्रीमती शकुन्तला देवी), श्री सूर्य प्रताप जी (जन्म १९१४ ई०), श्री धर्म प्रताप जी (जन्म १९१९ ई०, धर्मपत्नी श्रीमती पुष्पलता जी) तथा श्री वीर प्रताप जी (जन्म सन् १९२१ ई०) है।

वस्तुतः इस गौरवशाली शाह परिवार की काशी में कई और शाखायें भी हैं। ठठेरी बाजार में माधो जी-बीसू जी के वंशज, तथा शिवपुर में मधुसूदन दास जी के वंशज भी शाह मुकुन्दलाल उर्फ भक्कड़ साह के ही आत्मज हैं। इस वट वृक्ष के समान विशाल शाह-परिवार के समस्त प्राणी—बालक से वृद्ध

तक—और इनके सगे-सम्बन्धी भी जहाँ-जहाँ हैं वहीं सदाचार, सद्भावना और सद्गुणों के प्रतीक हैं।

हमने काशी के चौधुरी, राय और शाह, इन तीन प्रमुख अग्रवाल घरानों की अनन्यता का अपने निबन्ध में उल्लेख किया है। भारतरत्न डाक्टर भगवानदास जी की ज्येष्ठ सन्तान (महामना श्री श्रीप्रकाश जी की बड़ी बहिन) सौ० शान्ता देवी जी का शुभ विवाह चौधुरी घराने में—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के भतीजे—श्री व्रजचन्द्र जी चौधुरी (स्वर्गीय) के साथ हुआ था जिस नाते से पुरातत्व एवं संस्कृति के अप्रतिम विद्वान डा० मोती चन्द, महामहिम श्री प्रकाश जी के सगे भानजे हैं। उधर राय घराने के रत्न (अभी भारत रत्न नहीं) श्रीमान् श्रद्धेय रायकृष्णदास जी की बहिन सौ० चन्द्रकिशोरी जी का शुभ विवाह बाबू श्री विलास जी से हुआ था। इस प्रकार वर्तमान पीढ़ी में भी इन तीनों गौरवशाली परिवारों की एकसूत्रता अक्षुण्ण है।

पूर्वज बनकटा (गोरखपुर) के निवासी, जन्म जनवरी १९१० (वाराणसी), बी० ए०, एम० ए० (प्रथम श्रेणी) प्रयाग विश्वविद्यालय, १९३२ तथा १९३४। १९३४-३५ शोध-छात्र प्रयाग विश्वविद्यालय। जुलाई १९३७ से जून १९४७ तक अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, सेंट ऐंड्रूज कॉलेज, गोरखपुर। जु० १९४७ से सहायक प्रोफेसर, सागर विश्वविद्यालय। प्रकाशित ग्रंथः ''वेद का राष्ट्र गान', 'रतन-मंजरी', 'कादम्बरी', 'देश भर का दुश्मन', 'पुररवा की शपथ', 'नया निर्माणः नये संकल्प', और 'शेष लकीरें'।